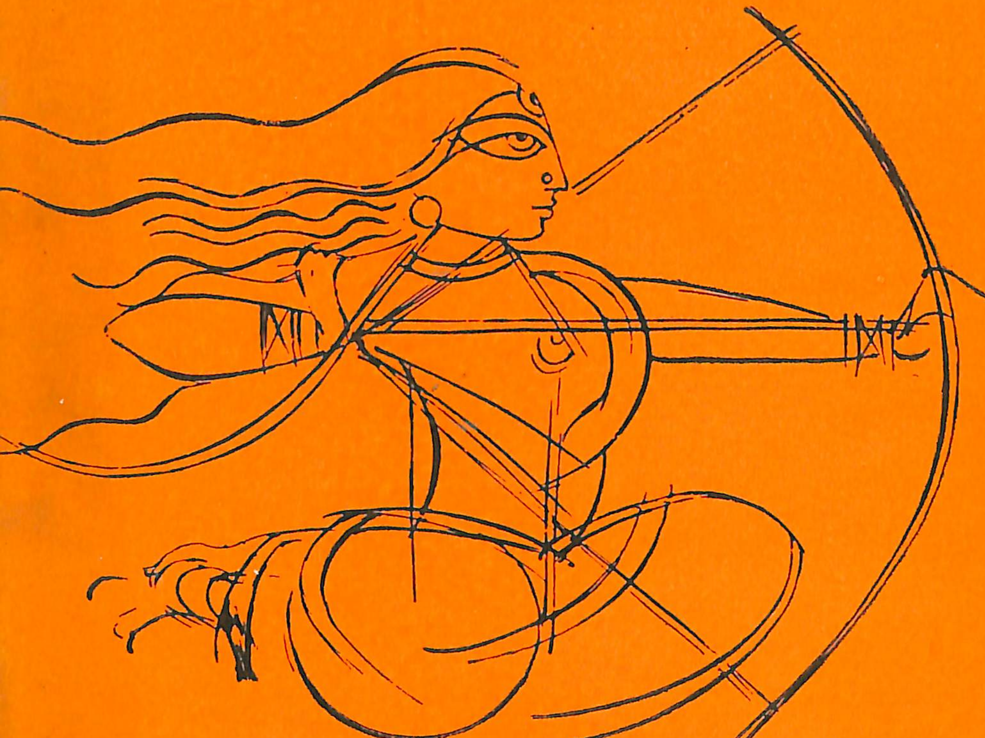
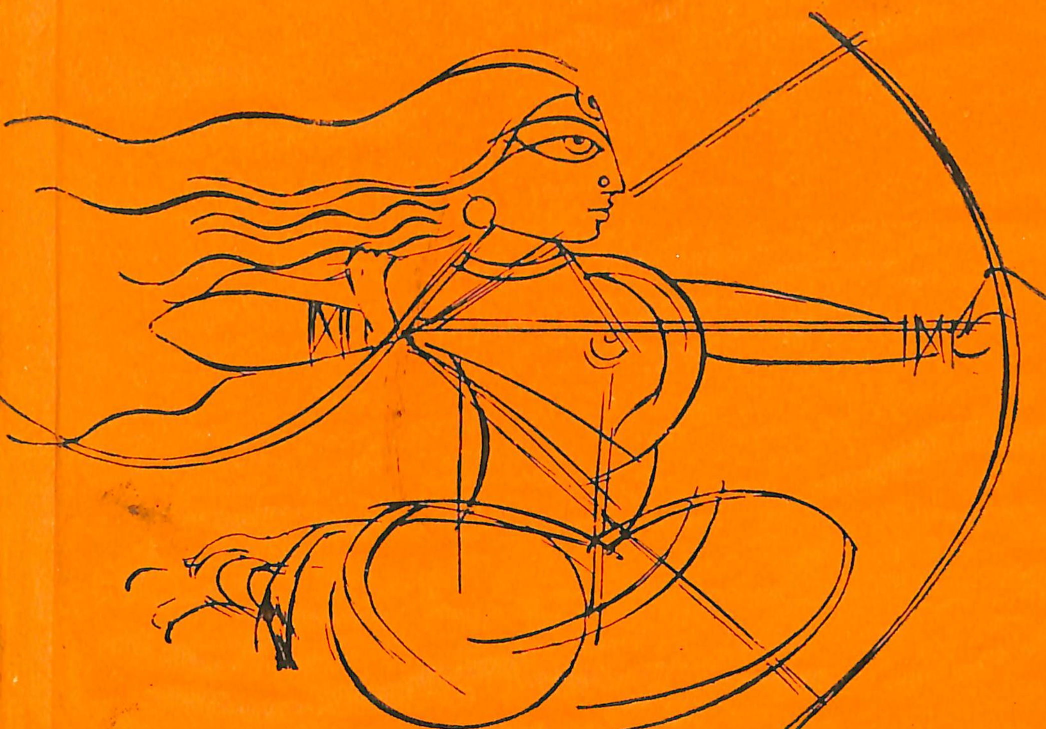
अमरुक-शतक



डॉ. किशोरीलाल गुप्त

अमरुक-शतक



डॉ० किशोरीलाल गुप्त

अमरुक-शतक

खड़ी बोली गद्य में रूपांतर एवं ब्रजभाषा
कवित्त सवैयों में पद्यानुवाद

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

जयभारती प्रकाशन

इलाहाबाद

Amaruk-Shatak

By

Dr. Kishori Lal Gupta

Published By

Jai Bharti Prakashan, Allahabad

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ
के अनुदान से प्रकाशित

जय भारती प्रकाशन
लालजी मार्केट, माया प्रेस रोड
२५८/३६५ मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद–३

प्रथम संस्करण : १९९४

मुद्रक :
एकेडमी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

मूल्य 29/-

सहृदय सुधी स्वर्गीय पं० विजयशंकर मिश्र

की

पुण्य स्मृति में

सादर समर्पित

किशोरीलाल गुप्त

वक्तव्य

तासी के अनुसार जगद्गुरू शंकराचार्य ने हिन्दी में भी सम्भवत: कुछ रचना की थी और वे अमरुक शतक नामक संस्कृत के श्रृङ्गारी काव्य ग्रन्थ के भी रचयिता समझे जाते हैं। तासी ने शंकराचार्य को किस प्रकार हिन्दी का भी कवि समझ लिया, इस बात की छानबीन करने के लिये मैंने १९५९ में अमरुक शतक का अध्ययन किया और ब्रजभाषा में उसका यह पद्यानुवाद प्रस्तुत हुआ। अनुवाद का यह कार्य सात सितम्बर ५९ को प्रारम्भ हुआ और १४ नवम्बर ५९ को सम्पूर्ण हुआ।

सितम्बर	७—९२, ९४, ९५, ९९, १००	: कुल ५ छन्द
	८—छंद ४०, ४५, ४८, ५१, ८१, ८३, ८४, ९३	: कुल ८ छन्द
	९—छंद ६७, ६८, ६९	: कुल ३ छन्द
	१०—छंद १, ४, ६, ८६	: कुल ४ छन्द
	११—छंद ५३, ५८	: कुल २ छन्द
	१२—छंद १२, १३, ३४, ३५, ४९, ५०, ५६, ५७, ६३, ८९, ९८	: कुल ११ छन्द
	१४—छंद २६, २७, २९	: कुल ३ छन्द
	१६—छंद २, ३	: कुल २ छन्द
	१७—छंद ५, ७, ८, ९	: कुल ४ छन्द
	२२—छंद १०, ११, १६	: कुल ३ छन्द
	२३—छंद १४, १५	: कुल २ छन्द
	२४—छंद २१, २२	: कुल २ छन्द
	२९—छंद १७, १८, १९, २०	: कुल ४ छन्द
	३०—छंद २३, २४, २५, २८, ३०	: कुल ५ छन्द

अक्टूबर ११—छंद ९१, : कुल १ छन्द

१८—छंद ९६ : कुल १ छन्द

२०—छंद ३१, ५९, ९७ : कुल ३ छन्द

२१—छंद ४४, ४६, ४७, ५२ : कुल ४ छन्द

२२—छंद ३२, ३३, ३६, ३७, ३८, ३९ : कुल ६ छन्द

२३—छंद ४१, ४२, ४३, ५४, ५५ : कुल ५ छन्द

२४—छंद ६१, ६२, ६४, ६५, ६६ : कुल ५ छन्द

नवम्बर १४—छंद ६०, ७०, ८०, ८२, ८५, ८७, ८८, ९० : कुल १० छन्द

सारा अनुवाद आजमगढ़ में ही सम्पन्न हुआ, केवल छन्द ९१ का अनुवाद गाँव पर सुधवै में दशहरा के दिन एवं छन्द ९६ का काशी में हुआ।

अनुवाद कार्य के लिए मेरा आधार ग्रन्थ आगरा निवासी श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट सम्पादित गद्यानुवाद से संयुक्त अमरुक शतक का वह संस्करण रहा है, जो संवत् १९७१ में गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास के लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, मुंबई से छपा था।

संस्कृत की मेरी अभिज्ञता नहीं के बराबर है। अतः गद्यानुवाद के रहते हुए भी मैंने पं० विजयशंकर मिश्र से इस ग्रन्थ का शब्दशः अनुवाद पुनः कराया। मैं उक्त पंडित जी के यहाँ अपनी पोथी लेकर चला जाता था और वे छन्दों का गद्यानुवाद बोल देते थे, मैं तत्काल लिख लेता था। आगे एक-एक कर मूल श्लोक हैं, तदनन्तर उक्त पण्डित जी का किया हुआ खड़ी बोली गद्यानुवाद है, फिर मेरे द्वारा किया हुआ ब्रजभाषा में पद्यानुवाद। जैसे-जैसे ये पद्यानुवाद होते जाते थे, हरिऔध कला भवन के महामन्त्री श्री विजय नारायण सिंह जी के आवास पर होने वाली नित्य सान्ध्य गोष्ठियों में वे सुनाये जाते थे, जहाँ पर उक्त महामन्त्री महोदय के अतिरिक्त सर्वश्री गुरुभक्त सिंह भक्त, विश्वनाथ लाल शैदा, दानबहादुर सिंह सूंड़, शिवशंकर पाण्डेय वैद्य. अवध नारायण लाल अष्ठाना, उक्त पण्डित विजय शंकर जी मिश्र, प्रो० जयकुमार मुद्गल, श्री हरनाथ सहाय आदि सुसंस्कृत सभ्यगण समुपस्थित रहा करते थे। आजमगढ़ का वह साहित्यिक वातावरण भी क्या खूब था।

१९६० के वसन्तोत्सव के अवसर पर हरिऔध कला भवन, आजमगढ़ में 'हरिऔध-प्रभा' का जो त्रिदिवसीय आयोजन हुआ था, उसके एक उत्सव में

अंमरुक शतक के इस अनुवाद का पाठ भी था। उस गोष्ठी के अध्यक्ष उक्त पण्डित विजयशंकर मिश्र थे और प्रमुख अतिथि थे काशी से गये हुए पण्डित लालधर 'त्रिपाठी 'प्रवासी'। उस गोष्ठी में मैंने समस्त भूमिका भाग एवं प्रथम ३० श्लोकों का पद्यानुवाद पढ़ा था। गोष्ठी सफल थी।

पण्डित विजय शंकर जी मिश्र आजमगढ़ जनपद के ही निवासी थे। वे मिसिरान के रहने वाले थे। वे पहले उदय प्रताप कालेज, वाराणसी में हिन्दी के प्राध्यापक थे। बाद में वे आजमगढ़ के डी० ए० वी० इन्टर कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक हो गये थे। मिश्र जी विद्वान् एवं सहृदय थे। उन्होंने उदय प्रताप कालेज में रहते समय कामायनी पर प्रथम समीक्षा ग्रन्थ प्रस्तुत किया था। यह बात १६३६ ई० की है। उस समय मैं काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में बी० ए० द्वितीय वर्ष का विद्यार्थी था और मैंने हस्तलिखित 'हिन्दी' का विशालकाय 'प्रसाद अंक' निकाला था। इस 'प्रसाद अंक' में मिश्र जी के उक्त समीक्षा ग्रन्थ का एक अध्याय मैंने ले लिया था। उक्त ग्रन्थ की प्राप्ति मुझे आदरणीय पण्डित पद्मनारायण जी आचार्य की कृपा से हुई थी। उक्त ग्रन्थ प्रकाश में न आ सका और कहीं खो गया। अब उसका एकमात्र अवशेष उक्त उद्धृत अध्याय के रूप में मेरे पास सुरक्षित 'हिन्दी' के 'प्रसाद अंक' में रह गया है।

पं० विजय शंकर जी मिश्र अब इस संसार में नहीं हैं। उनका निधन आजमगढ़ में ही ३१ दिसम्बर १६६१ की रात्रि में १० बजे के लगभग घण्टे दो घण्टे की बीमारी में हो गया। हरिऔध प्रभा की अमरुक शतक गोष्ठी में जब मैंने उक्त मिश्र जी को सभापति बनाया था, तब मेरे मित्र शैदा जी ने इसे अत्यन्त सराहा था और कहा था कि मिश्र जी ने इस अनुवाद कार्य में मेरी जो सहायता की थी, मैं उससे उऋण हो गया। परन्तु मैं समझता हूँ कि मैं उनसे उऋण नहीं हो पाया हूँ और न मैं उनसे उऋण ही होना चाहता हूँ। उनका ऋण-भार मुझ पर सदा बना रहे, उसकी स्मृति मुझे बराबर होती रहे, इसीलिए इस ग्रन्थ को मैं उनकी दिवंगत आत्मा को समर्पित कर रहा हूँ।

'अमरुक शतक' का ब्रजी में यह पद्यानुवाद शायद युग की रुचि के बहुत अनुकूल न हो, क्योंकि अब सम्पन्नता का वह युग नहीं रहा, जब 'काव्यशास्त्र

विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' का व्यसन सब व्यसनों में स्वस्थ एवं सुसंस्कृत समझा जाता था। फिर भी जब यह अनुवाद स-विलास, स-व्यसन नहीं, सम्पन्न हो ही गया है, तब सदाशयों के सम्मुख प्रस्तुत करने में मैं असमंजस क्यों करूँ। मैंने कोई चोरी नहीं की है, अनुवाद किया है। अनुवाद कैसा है, सुधीजन जानें। मुझे अपने कार्य से सन्तोष है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा प्रदत्त छह हजार रुपये की आर्थिक सहायता से किया गया है। एतदर्थ मैं अकादमी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थ २८-५-६४ को ही पूर्ण रूप से प्रस्तुत हो गया था, पर प्रकाश में अब आ रहा है।

पहले अमरुक शतक के ऋषीश्वरनाथ भट्ट द्वारा स्वीकृत केवल १०० श्लोकों का पद्यानुवाद मैंने किया था। अब प्रकाशन के समय इसके परिशिष्ट के १३ श्लोक भी अनूदित कर दिये गये हैं। इनका अनुवाद-काल है—

१० फरवरी ६४—श्लोक १०१

१४ फरवरी ६४—श्लोक १०२–१०६

१८ फरवरी ६४—श्लोक १०७–१०९

१९ फरवरी ६४—श्लोक ११०–११३

साहित्य वाचस्पति
डॉ० किशोरीलाल गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

सुधवै, वाराणसी
५-७-१९९४

प्रशस्ति

(१)

'मुक्तकेषु हि प्रवंधेष्विव रसबंधाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः श्रृङ्गाररसस्यंदिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धा एव ।

—आनंद गोवर्धनाचार्य (६५० वि०), ध्वन्यालोक,
तृतीय उद्योत, सप्तमकारिका की वृत्ति

(२)

अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबंधशतायते

—भरत टीकाकार

(३)

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विह्नुनितान संचरति ।
श्रृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु

—अर्जुनवर्मदेवः

अमरुक के कवित्व-डमरू के
डमन्नाद से हुई तिरोहित
और दूसरी रतिरसभीनी
उक्ति नहीं गुंजित होती है
श्रवणयुगल में धन्यजनों के !

—कमलेशदत्त त्रिपाठी (अनुवाद)

अनुक्रम

□

भूमिका

१. क्या शंकराचार्य हिन्दी के कवि थे ?

तासी लिखता है—

(१) यह निश्चित करना कठिन है कि हिन्दी के सबसे अधिक प्राचीन कवि किस समय हुए। तो भी मैंने अमर शतक द्वारा ज्ञात संस्कृत कवि शंकर आचार्य का उल्लेख किया जो नवीं शताब्दी में रहते थे और जिन्होंने कुछ हिन्दी कविताएँ लिखी प्रतीत होती हैं।

—हिंदुई साहित्य का इतिहास, पृ०—१०७, टि० १।

(२) इस प्रसिद्ध व्यक्ति और प्रख्यात संस्कृत लेखक का मैं यहाँ केवल इसलिए उल्लेख कर रहा हूँ क्योंकि उसने हिन्दी में भी लिखा प्रतीत होता है।

यह ज्ञात है कि अन्य के अतिरिक्त सौ शृंगारिक कविताओं का प्रसिद्ध संग्रह 'अमर शतक' उनकी देन है।

—हिंदुई साहित्य का इतिहास, परिशिष्ट ७, संकर आचार्य, पृ० ३९४।

तासी का अध्ययन करते समय मेरी दृष्टि इन पंक्तियों पर पड़ी। अमरु शतक को उलट पलट कर देखने की इच्छा हुई कि उससे किस प्रकार ज्ञात होता है कि यह शंकराचार्य की रचना है, न कि अमरुक की। इस दृष्टिकोण से मैंने अमरु शतक को उलटा पलटा भी।

मेरे पास अमरु शतक का जो संस्करण है, वह सं० १९७१ में गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास के लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, मुंबई में छपा था। यह संस्करण हिन्दी अनुवाद सहित है। अनुवादक हैं ऋषीश्वरनाथ भट्ट, बी० ए०, प्राज्ञ।

भट्ट जी आगरा के रहने वाले थे। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बद्रीनाथ भट्ट के भाई थे, यह आगरा से निकलने वाले हास्यरस के प्रसिद्ध पाक्षिक 'नोंक झोंक' के जन्मदाता थे; इनका देहावसान १९५७ ई० के लगभग हुआ है; यह ब्रजभाषा के अच्छे कवि भी थे। अनुवादक ने ग्रन्थारम्भ में ७ पृष्ठों की भूमिका लगा दी है। इस भूमिका में इस किंवदन्ती का उभ्लेख है, जिसके

अनुसार शंकराचार्य ने गतप्राण अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश करके अमरु शतक बनाया। किंवदन्ती के अनुसार जब शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र को वाद में पराजित किया, तब मण्डन मिश्र की पत्नी, उक्त वाद की निर्णायिका, विदुषी शारदा मिश्र ने उनसे कहा कि अभी आपकी विजय अधूरी है, आपने केवल अर्द्धांग पर विजय प्राप्त की है। मुझे भी पराजित कर लीजिए, तभी आपकी पूरी विजय होगी। शंकर शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हो गए। शारदा शंकर के अगाध पाण्डित्य को देख चुकी थी। उसने सोचा इन्हें किसी ऐसे क्षेत्र में ले जाकर पटका जाय, जहाँ इनकी गति न हो। उनके ब्रह्मचारी रूप से वह अवगत थी। उसने उनसे कामशास्त्र के प्रश्न पूछे—बताइए कि पुष्पधन्वा कामदेव की कलाएँ कितनी हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? वे किस पद (स्थान) का आश्रय लेने वाली हैं ? पूर्व पक्ष में उनकी भिन्न स्थिति कैसे हो जाती है ? युवती में उनकी स्थिति कैसी होती है और पुरुष में कैसी ?

कला: कियत्यो वद पुष्पधन्वनः
किमात्मिकाः किंच पदं समाश्रिताः
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः
कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे

शंकर चुप हो रहे, कुछ उत्तर न सूझ पड़ा। उन्होंने एक मास की अवधि मांगी और शिष्यों के सहित वहाँ से चल पड़े। कश्मीर नरेश अमरुक वन में आखेट के लिए गया था। दैवयोग से वहीं दिवंगत हो गया। उसका शरीर एक वृक्ष के नीचे पड़ा था और रानियाँ विलाप कर रही थीं। शंकराचार्य ने यह दृश्य देखा। उन्होंने अपने शिष्य सनंदन से कहा—'मैं अपना शरीर छोड़-कर राजा की काया में प्रवेश कर रहा हूँ, तुम मेरे निष्प्राण देह की रखवाली करना।' राजा के मृत शरीर में शंकर ने योग बल से प्रवेश किया। राजा जी उठा। रानियाँ प्रसन्न हो गईं। राजा अपनी राजधानी को लौट गया और अपनी रानियाँ के रागरंग में लीन हो गया। इस प्रकार शंकर कामतत्व से परिचय प्राप्त कर राजा का शरीर छोड़ पुनः अपनी काया में प्रविष्ट हो गए और शारदा मिश्र के पास जा उन्होंने उनके प्रश्नों का उचित उत्तर दे उन्हें भी पराजित किया। किंवदंती कहती है कि अमरुक रूप में कामकला का जो अनुभव शंकर ने प्राप्त किया था, उसी का अभिव्यंजन उन्होंने 'अमरु शतक' में किया।

अनुवादक का कथन है कि शंकर दिग्विजय में उक्त कथा है, पर उसमें यह उल्लेख नहीं है कि शंकर ने अमरुशतक की रचना की। उसका यह भी कहना है कि अमरुशतक में शारदा मिश्र के प्रश्नों के उत्तर अनुरूप कुछ है भी नहीं। उसका स्पष्ट मत है कि प्रसिद्ध शंकराचार्य को अमरुशतक से कुछ भी लेना देना नहीं। 'अमरुशतक' के रचयिता और मृत राजा का नाम संयोग-वशात एक ही है। यही संयोग इस किंवदन्ती के मूल में है। यही प्रायः सभी विद्वानों का मूल है। केवल रविचन्द्र इस किंवदन्ती में विश्वास रखते हैं। उन्होंने अमरुशतक की अपनी टीका में प्रत्येक श्लोक का शांतरसपरक अर्थ भी किया है। उनकी मान्यता यह है कि शंकराचार्य ऐसा योगी जो कुछ कहेगा वह अवश्य शांतरस परक होगा; अतः घोर शृंगारी अमरुशतक का शांतरस-परक अर्थ भी होना ही चाहिए। तासी को अमरुशतक का ऐसा ही कोई संस्करण मिल गया रहा होगा और वे इसे शंकराचार्य की रचना मान बैठे। मेरा यह भी खयाल था कि शायद अमरुशतक से ही शंकराचार्य का हिन्दी कवि होना भी सिद्ध हो जाय। पर तासी के दोनों कथन नितान्त भ्रममूलक सिद्ध हुए। हाँ, इस उलट पलट में मेरी अमरुशतक के प्रति आसक्ति बढ़ गई। इस काव्य ने रीतिकालीन काव्य परम्परा को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। इस दृष्टि से मैंने इसका सम्यक् प्रभाव देखना चाहा और इसका अध्ययन गहन होता गया तथा लगे हाथों यह अनुवाद भी हो गया।

२. अमरुक

समय

अमरुक ने यद्यपि अपने काव्य द्वारा अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की है, फिर भी इनके समय, स्थान आदि का ठीक-ठीक पता नहीं और न इनके जीवन की ही कोई जानकारी सुलभ है। इनके सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि संवत् ८०० से कुछ पहले हुए ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन का समय ८५० ई० है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत में अमरुक का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है और उनके कई सरस छन्दों को उदाहरण रूप में उद्धृत किया है——

'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसवंधाभिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।'

तथा

'अमरुकस्य कवे. मुक्तकाः शृंगारस्यंदिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।'

स्पष्ट है अमरुक आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती हैं। वामन आनन्दवर्द्धन से भी कुछ पहले लगभग ८०० ई० में उपस्थित थे। वामन ने अमरुक के तीन छन्द बिना रचयिता का नाम दिए उद्धृत किए हैं। अतः अमरुक वामन से भी पहले के हैं। विद्वान इनका समय आठवीं शती अनुमानते हैं।

स्थान

डॉ० भोलाशंकर व्यास का मत है कि शंकराचार्य वाली यह किंवदंती कि उन्होंने अमरुक शतक की रचना की, यद्यपि निस्सार है, पर उसमें भी एक सार है। उनका ख्याल है कि इस कथा में अमरुक के जन्मस्थान का संकेत है—अर्थात् अमरुक कश्मीरी था। इस कल्पना को वे नाम के तर्क पर और भी पुष्ट करने का प्रयास करते हुए कहते हैं अमरुक नाम कश्मीरियों जैसा है। कैयट, जैयट, मम्मट, कल्लट, वज्रट, विह्लण, कह्लण जैसे नामों की तरह शंकुक जैसे नाम भी कश्मीरियों में मिलते हैं। अमरुक और शंकुक के नामों में यही कश्मीरीपन की तुक दिखाई पड़ती है।[1]

जाति :

ऋषीश्वरनाथ भट्ट ने इन्हें जाति का सुनार कहा है और प्रमाण में कृष्णमचारी के अँगरेजी में लिखे संस्कृत साहित्य के इतिहास से निम्नांकित उद्धरण दिया है—

विश्वप्रख्यातनाडिंधमकुलतिलको विश्वकर्मा द्वितीयः

'नाडिंधम' सुनार को कहते हैं।

भट्ट जी ने अमरुक शतक के टीकाकार अर्जुन बर्मदेव का यह उद्धरण दिया है और इसके अनुसार इन्हें ललित कलाओं में प्रवीण कहा है—

क्रीड़ाधाम्नः कलानाममरकसुकवेः केऽप्यमी श्लोकपादाः

३. अमरुक शतक के विभिन्न संस्करण

अमरुक का केवल एक ग्रन्थ अमरुक शतक मिलता है। इसके कई संस्करण भारत और विदेश में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पूर्ण समानता नहीं है। विभिन्न संस्करणों में पद्य संख्या ९० से ११५ तक पाई जाती है। विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सबमें केवल ५१ छन्द समान हैं।[2] शेष छन्द कुछ में मिलते हैं, कुछ में नहीं। डॉ० भोलाशंकर

१. संस्कृत कवि दर्शन : पृ, ५३७ : ५३८

२. वही, पृ० ५३८

व्यास का अनुमान है कि सम्भवत: विकट नितंबा, शीला भट्टारिका जैसी कवयित्रियों के भी कुछ छन्द अमरुक शतक में मिल गए हैं।

ऋषीश्वरनाथ जी ने महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद जी के आधार पर अमरुक शतक की सात टीकाओं का उल्लेख किया है—

(१) महाराज अर्जुन वर्म देव कृत रसिक संजीवनी टीका—इस टीका में परिशिष्ट के भी श्लोकों को जोड़ लेने पर छन्द संख्या १६३ तक पहुँच जाती है। अर्जुन वर्मदेव तेरहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए। यह मालवाधिप राजा भोज के वंशज थे। यह प्राचीनतम एवं सर्वाधिक प्रामाणिक टीका है। इसमें रस और अलंकार का पूरा विवरण दिया गया है।

(२) वेमभूपाल कृत शृंगार दीपिका

(३) रुद्रदेव कृत टीका

(४) रविचन्द्र कृत कामदा टीका—इस टीका में १०० श्लोक हैं, यह १६४४ में काशी से प्रकाशित हुई है।

(५) सूर्यदास कृत शृंगार तरंगिणी

(६) शेष रामकृष्ण कृत रसिक संजीवनी

(७) एक कर्तृ नाम-रहित टीका

ऋषीश्वर नाथ भट्ट के पास अमरुक शतक की ५ प्रतियाँ थीं, ३ सटीक; २ केवल मूल। इनमें से ४ में १०० श्लोक थे, सभी समान थे और एक ही क्रम से थे। इन्हीं १०० श्लोकों को उन्होंने उसी क्रम से अपनी हिन्दी टीका में ग्रहण किया है और उन्हीं को व्रजी के इस पद्यानुवाद में भी स्वीकार किया गया है। भट्ट जी ने ग्रन्थांत में अन्य प्रतियों में पाए जाने वाले १३ अधिक छन्दों को परिशिष्ट रूप में संकलित कर दिया है। इनकी टीका नहीं की है।

४. छन्द

अमरुक शतक में कुल नौ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं। इनमें एक तो मुक्तक है, शेष गणवृत्त हैं।

(अ) मुक्तक

१. अनुष्टुप—इस छन्द के प्रत्येक चरण में ८ अक्षर होते हैं; प्रत्येक चरण में पांचवा अक्षर लघु एवं छठाँ गुरु होता है। दूसरे एवं चौथे चरणों में सातवाँ

अक्षर भी लघु होता है। अमरुक शतक के ये दो छन्द अनुष्टुप में है—६३, १००।

(ब) गण वृत्त

१. **द्रुतविलंबित**–इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। इसका लक्षण 'न भ भ र' है। अमरुक शतक में द्रुतविलंबित छन्दों की संख्या कुल २ है। ए हैं ५१, ६०।

२. **वसंततिलका**–इसके प्रत्येक चरण में कुल १४ अक्षर होते हैं। इसका लक्षण है—त भ ज ज ग ग। अमरुक शतक में ए ११ छन्द वसंततिलका गणवृत्त में हैं—१, ४९, ५२, ६८, ६९, ८६, ८९, ९४, ९५, ९८, ९९।

३. **मालिनी**–इसके प्रत्येक चरण में १५ अक्षर होते। इसका लक्षण है—न न म य य। अमरुक शतक में २ मालिनी छन्द हैं—३५, ४०।

४. **मंदाक्रांता**–इसके प्रत्येक चरण में १७ अक्षर होते हैं। इसका लक्षण है—म म न त त ग ग। ४, ६, ७ वर्णो पर विराम होता है। अमरुक शतक में ३ मंदाक्रांता छन्द हैं—३४, ५६, ६५।

५. **हरिणी**–प्रत्येक चरण में १७ अक्षर होते हैं। इसका लक्षण हैं न स म र स ल ग। ६, ४, ७ पर विश्राम। अमरुक शतक में १३ हरिणी छन्द हैं—४, ९, १२, १७, २७, २८, ३९, ४७, ६४, ७१, ७३, ८४, ९६।

६. **शिखरिणी**–प्रत्येक चरण में १७ अक्षर। लक्षण य म न स भ ल ग, ६, ११ पर विश्राम। अमरुक शतक में ९ शिखरिणी छन्द हैं—६, २१, ३७, ३८, ४६, ६६, ७६, ८२, ८७।

७. **शार्दूलविक्रीडित**–प्रत्येक चरण में १९ अक्षर। लक्षण म, स, ज, स, त, त, ग। १२, ७ पर विश्राम। अमरुक शतक में ५४ शार्दूल विक्रीडित छन्द हैं, ३, ५, ७, ८, १०, ११, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २२, २३, २४, २५, २६, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५३, ५८, ५९, ६१, ६२, ६७, ७०, ७२, ७४, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८३, ८५, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९७।

८. **स्रग्धरा**–प्रत्येक चरण में २१ अक्षर। लक्षण–य र भ न य य य। ७, ७, ७ पर विश्राम। अमरुक शतक में ४ स्रग्धरा छन्द हैं—२, ५४, ५५, ५७।

छन्दों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि अमरुक को शार्दूलविक्रीड़ित जैसे बड़े छन्द का मोह है। इन्होंने बड़े-बड़े, लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग नहीं किया है। अमरुक शब्द-कवि नहीं हैं, रस-कवि हैं। इनके छन्दों में छोटे-छोटे पदों वाली ललित वैदर्मी रीति का उपयोग हुआ है। इन्होंने शब्द-प्रयोग में बाहरी सौन्दर्य या शब्दालंकार पर अधिक बल नहीं दिया है। यह पद-विन्यास के लिए बहुत सतर्क नहीं हैं। भाव स्वतः अपने अनुरूप शब्द-योजना कर लेता है।

५. अमरुक शतक की काव्यगत विशेषताएँ

अमरुक शतक अमरु कृत लगभग १०० मुक्तकों का संग्रह है। इसका प्रत्येक छन्द दूसरों से बढ़कर है। इस मुक्तक-मालिका का प्रत्येक मुक्तक सुमेरु होने के लिए होड़-सा करता प्रतीत होता है। अमरुक के मुक्तक भावी मुक्तक रचयिताओं के लिए आदर्श का कार्य करते रहे हैं। मुक्तक प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक कला की आकांक्षा करता है। यह स्वतः पूर्ण होता है, आगे-पीछे के छन्द-वंध से यह सर्वथा मुक्त होता है। श्रेष्ठ मुक्तकों में एक साथ रस की तरलता, चमत्कार की वक्रता एवं समास शैली की निपुणता पाई जाती है। 'गागर में सागर' मुक्तक की सबसे बड़ी विशेषता है। अमरु के मुक्तक इन सभी गुणों से युक्त हैं, अतः अपने उद्‌भव काल से ही ये सहृदयों के गले के हार बने हुए हैं। इनमें कला के कृत्रिम चमत्कार की ऊपरी तड़क-भड़क नहीं है। इनमें वह पानी है जो कभी धुँधला नहीं होता। ये मुक्तक यद्यपि पानिप-युक्त हैं, पर इनसे प्यास बुझती नहीं, बार-बार आप्यायित होने पर भी अतृप्ति बनी रहती है।

अमरुक शतक का कवि न तो नीतिवादी है और न कलावादी, वह रसवादी है। अमरु श्रृङ्गार की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत करने में परम प्रवीण हैं। श्रृङ्गार का आस्वादन ही उनका चरम लक्ष्य है। वह श्रृङ्गारिक चित्रों का लेखन अपनी कुशल लेखनी-तूलीं से करते हैं। अमरु शतक के प्रारम्भ में मंगलाचरण सम्बन्धी जो तीन छन्द हैं, वे भी श्रृङ्गारी हैं। पहले में कहा गया है कि पार्वती का कटाक्ष तुम्हारी रक्षा करे। इस छन्द में पार्वती के धनुष-नृत्य का वर्णन हैं। नृत्य करती हुई पार्वती धनुष की डोरी कानों तक खींचती हैं। हाथों के नख कान के ठीक नीचे हथेली के पृष्ठ भाग पर प्रतिबिम्बित से हो जाते हैं और यह प्रतिबिम्ब कानों में लटकता मंजरीयुक्त पल्लव का

कर्णपूर सा लगता है और पास ही स्थित कटाक्ष उसका रस पान करते हुए भ्रमर-सा। अमरु ने पार्वती के कटाक्ष का वर्णन सर्वप्रथम किया है। संभवतः कवि शैव है। नायिका का कटाक्ष रतिभाव उत्पन्न करने में सर्वाधिक समर्थ है, अतः कवि ने सबसे पहले पार्वती के कटाक्ष का ही वर्णन किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कवि पुरुषों के लिए ही लिख रहा है, उसकी पाठिकाएँ स्त्रियाँ भी हो सकती हैं, इसका उसे ध्यान नहीं है। इसी प्रकार दूसरे छन्द में कहा गया है कि त्रिपुरदाह के समय शम्भु के बाण से उत्पन्न हुई अग्नि तुम्हारे दुःखों को भस्म करे। इस अग्नि की विशेषता का वर्णन करते हुए जिन शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है, वे मानिनी नायिका एवं त्रिपुर पत्नियों के पक्ष में समान रूप से उपयुक्त हैं। तीसरे छन्द में तो कवि ने हरिहर का ध्यान करने की अपेक्षा, विपरीत रता के मुख-मण्डल के ध्यान को अधिक रक्षाकारी समझा है। इस सारी मुक्तकावली में न तो कोई छन्द नीति का है और न किसी अन्य छन्द में ही नीति की गन्ध है।

अमरु कलावादी भी नहीं हैं। वे पद-विन्यास के सम्बन्ध में बहुत सतर्क नहीं हैं। भाव के अनुरूप वाणी स्वतः ढलती जाती है। इसीसे उसमें एक स्वच्छन्द प्रवाह है। 'मा मा मानद माति मामलमिति' में कुछ लोगों को न्यूनपदत्व दिखाई पड़ा है, पर यह ऐसा है नहीं। रति-सुख के कारण नायिका मोहाविष्ट हो गई है और उसके मुख से पूरी वाणी नहीं फूटती। वह इतना ही कह पाती है 'नहीं नहीं, मुझे अधिक नहीं !!' उसकी यह अधूरी वाणी ही पूरा रस देने वाली है, उसके भाव को पूर्णरूपेण व्यक्त कर देने वाली है। इस प्रकरण में उसका अधूरा कथन ही उचित है। "दोष भी यहाँ गुण हो गया है" ऐसा कहना ठीक नहीं, यहाँ दोष है ही नहीं।

अमरु व्यर्थ के लिए अनुप्रास, यमक, श्लेष, श्लेष-वक्रोक्ति, मुद्रा आदि अलंकारों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। ये सब कृत्रिम चमत्कार हैं। साथ ही कल्पना का चमत्कार भी होता है, जिसे दूर की कौड़ी लाना कहा जा सकता है। अमरु न तो कल्पना के चमत्कार के फेर में पड़े हैं और न कृत्रिम शब्द-स्थापना वाले चमत्कार के। इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की उपेक्षा की गई है। ये भी सहज स्वाभाविक रूप में यत्र-तत्र प्रवाह में आ गये हैं। 'तन्वी शरत्त्रिपथगा' तथा 'ऊरुद्वयं मृगदृशा' में रूपक, 'सालक्तकं शतवलाधिक्कांतिरम्यं' में पूर्णोपमा आदि अलंकार बड़े सुन्दर ढंग से आये हैं।

मुक्तक काव्यों में इतना अवकाश नहीं होता कि कवि प्रसंग और प्रकरण की सूचना स्वयं दे सके। पाठक को इनकी कल्पना स्वयं करनी पड़ती है। जो लोग रस-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद आदि से पूर्ण परिचित नहीं हैं, उनके लिए न तो अर्थ की प्रतीति सम्भव है और न रस का आस्वादन ही। अमरुक के छन्दों में नवोढ़ा, मुग्धा, खण्डिता, अभिसारिका, प्रोषितपतिका, प्रवत्स्य-त्पतिका, आगतपतिका आदि नायिकाओं, घृष्ट नायक, मान आदि विरह के अनेक चित्र हैं। अतः अमरु काव्य का आस्वाद लेने के लिए साहित्य का शास्त्रीय परिचय उतना ही अपेक्षित है, जितना वह बिहारी सतसई के लिए है।

अमरु शतक के प्रत्येक छन्द की विशेषता है उसकी चित्रमयता। इसका एक-एक मुक्तक एक एक चित्र है। कोई भी श्लोक ऐसा नहीं, जिससे कोई स्पष्ट चित्र न बन जाता हो।

अमरु शतक सामंतीय युग की रचना है। इसके श्लोकों में जिन नायिकाओं अथवा नायकों का अंकन हुआ है, वह अभिजात वर्ग के हैं। सामान्य जनता के वर्ग के नहीं। नायिकाएँ अपनी सहेलियों से घिरी हैं, उन्हें हाहा ठीठी के अति-रिक्त कोई दूसरा काम नहीं, दास-दासी आदि आवश्यक कामों के लिए हैं। घर धन धान्य ही नहीं, विलास के उपकरणों से भी परिपूर्ण है। अमरु शतक में युग की सम्पन्नता, युग की अभिजात्य रुचि और उच्चवर्गीय संस्कार ही सर्वत्र मिलेंगे।

६. अमरु शतक और हिन्दी की रीतिकालीन मुक्तक काव्यधारा

(१) अमरु और केशव

अमरु शतक ने केशव के युग से ही रीतिकालीन हिन्दी मुक्तक काव्यधारा को प्रभावित किया है। केशव संस्कृत काव्य एवं काव्यशास्त्र दोनों के पण्डित थे। निश्चय ही उन्होंने अमरुक शतक भी पढ़ा था, इसका प्रमाण केशव का निम्नांकित छन्द दे रहा है :

'केशव' प्रात बड़े ही बिदा कहुँ, आए प्रिया पहँ, नेह नहे री।
"आऊँ महावन ह्वै जु कहौ', हँसि बोल द्वै ऐसे बनाइ कहे री।
को प्रति उत्तर देय सखी, सुनि लोल विलोचन यों उमहे री।
सौंह कके हरि हारि रहे, अधरातिक लौं अँसुवान रहे री।

इसे अमरु शतक के इस श्लोक का अनुवाद ही समझना चाहिए—

लग्ना नांशुकपल्लवे, भुजलता नद्वारदेशेऽर्पिता
नी वा पादतले तया निपतितं, तिष्ठेति नोक्तं वच :
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत: शठस्—
स्तन्व्या वाष्पजलौघकल्पितनदीपूरेण रुद्ध प्रिय: ६२

('उसने प्रियतम का वस्त्रांचल न पकड़ा, न द्वारदेश को भुज से रोका, न वह चरणों में लोटी, न उसने ठहरने को कहा। मेघमाला से मलिन हुए समय में जब निर्दय पति जाने को तैयार हुआ, तब तन्वी ने केवल अश्रुकल्लोलों से कल्पित नदी के प्रवाह से उसे रोक लिया')

केशव ने पृष्ठभूमि के रूप में ढाई चरण प्रस्तुत किए हैं। अंतिम डेढ़ चरणों में प्रिय, प्रिया के अश्रुपूर से रुका हुआ, दिखाया गया है। श्लोक में परदेश जाते प्रिय को रोकने की चार प्रणालियों को छोड़कर अश्रुपूर की सहायता से प्रिय को रोक लेने की बात कही गई है। श्लोक के तृतीय चरण में उद्दीपन रूप में अंबुदालि (मेघमाला) का भी उल्लेख हुआ है । केशव के छन्द में यह बात भी नहीं हे। वस्तुत: केशव ने श्लोक के केवल चतुर्थ चरण से प्रभावित होकर अपना छन्द स्वतन्त्र ढंग से प्रस्तुत किया है। इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता। श्लोक केशव के स्वतन्त्र छन्द से अच्छा है।

(२) अमरुशतक का नीलकण्ठ कृत हिन्दी अनुवाद

नीलकण्ठ नामक कवि ने संवत् १६६८ में अमरुशतक का 'अमरेश विलास' नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया था। यह अनुवाद किसी अमरसिंह के लिए किया गया था। इस ग्रन्थ का विवरण सभा की खोज रिपोर्ट १९०३ में प्रथम संख्या पर है और अनुमान किया गया है कि यह नीलकण्ठ प्रसिद्ध कवि भूषण के भाई जटाशंकर उपनाम नीलकण्ठ हैं। उक्त रिपोर्ट से प्रसंग प्राप्त अंश पूर्ण रूप से उद्धृत कर दिया जा रहा है—

No 1 अमरेश विलास-Verse
Substance—Kashmir made paper
Leaves—45
Size—7.5 × 5 inches
Lines—16 on a page
Extent—860 slokas

Appearance—Worm-eaten but new. Complete Generally incorrect.

Character—Devnagari

Place of Deposit—Pt. Shiwaram's Library Guler

Amaresh Vilas—Translation of 108 slokas of Amruk Satak made by the poet Nilkantha in Vikram samvat 1698 (1640 A. D.). This Nilkantha was probably the brother of the great poet Chintamani, Bhushan and Matiram. The manuseript is dated samvat 1808 (1751 A. D.).

Beglnning—

ॐ श्री गणेशायनमः

अथ अमरेश विलास लिख्यते

तासु सुवन तिहु भवन सारिबाहन जसु जान्यो
तेग त्याग बड़ भाग जासु गुन गुनिन बखान्यो
वीर वीर मतिधीर उदधि गंभीर धुरंधर
जगजीत सोचि नीत परम हिंद पुनीत वर
महिपाल मौलि नव मुकुट मनि, दुखभंजन दुर्जन दवन
कवि नीलकंठ इमि उपजहिं, सुवीरल अवनि अवनी रवन ॥१॥
विरचि तेग गहै रारि, संहिन सुन मंडे
दोरि दुअन दल मले, मस्त गज कुंभ विहंडे

End

सवैया

काम के प्यास ते कामिनी के, जवहीं तें पिए अधरा सघरा मैं
जोन सुधारस हूँ ते अनूपम, या विधि और कहौ रस कामैं
'कंठ' कहै तबतें बहुती विधि, दूगुन प्यास बढ़ी फिरि वामैं
ताको अचंमो कहा करिए हौं, जौ पै व (हु) लोन लुनाई है तामैं १०८

श्री मन्महिपाल मौलि मुकुट चिंतामणी श्री महाराजाधिराज श्री अमर सिंह देव विलासाख्यो नीलकंठ कृत समाप्तः शुभमस्तु ।

बरस सोरह ठानवै, सातैं सावन मास
नीलकंठ कवि उच्चरिय, श्री अमरेस विलास

संवत् १८०८ चैत्रे मासे कृष्णपक्षे रविवासरे प्रतिपदा तिथौ हरिपुर नगर वसते जालंधर क्षेत्रे वाणगंगा महिमा लिषतं प्रोहित मनसाराम जी । श्री जालपायै नमः शुभं भूयात् ।।

Subject—अमरुशतक के १०८ श्लोकों का अनुवाद ।

Note—ग्रन्थ अन्तिम दोहे के अनुसार संवत् १६६८ श्रावण की सप्तमी को कवि ने बनाया है तथा जिस प्रति की वह नोटिस है वह हरिपुर में संवत् १८०८ चैत्र कृष्ण १ को पुरोहित मनसाराम ने लिखी थी । ग्रंथकार ने यदयपि आदि के छप्पयों में वीरसिंह राजा की स्तुति की है, किन्तु छठें और सातवें छप्पय में 'राय' 'अमरेश' की स्तुति के मिल जाने से यह ऐतिहासिक तागा कच्चा मालूम देता है । कदाचित भूषण प्रभृति चार भाइयों में से यह नीलकण्ठ हों ।''

इस विवरण में नीलकण्ठ द्वारा अनूदित छन्दों में से केवल एक दिया जा सका है । पाठ पर्याप्त भ्रष्ट है । इस ग्रन्थ की और कोई दूसरी प्रति अभी तक नहीं मिली । यदि यह पुस्तक पूरी पूरी देखी जा सके, तभी इस अनुवाद की उत्तमत्ता अनुत्तमत्ता पर विचार किया जा सकता है । जो एक छन्द ऊपर उद्धृत है, उसे बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता ।

उक्त विवरण 'उसने कहा था' कहानी के प्रसिद्ध लेखक एवं सुप्रसिद्ध विद्वान चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने लिख भेजा था । यह पुस्तक उन्हीं के गांव गुलेर में पण्डित शिवराम की लाइब्रेरी में था । कुछ पता नहीं अब यह वहाँ है या नहीं ।

(३) अमरु शतक का एक दूसरा अनुवाद

अनुवादक पुरुषोत्तम का परिचय

पुरुषोत्तम जी ने 'हनुदूत'[1] नामक अपने एक काव्य ग्रन्थ में एक दोहे और एक कवित्त में अपना परिचय दिया है—

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ०—२१—२२

दोहा

पुरुषोत्तम कवि कंपिला-वासी, मानिक-नंदु ।
कृपा करैं परबत-पती, बाज बहादुर चंदु ॥२॥

कवित्त

वामन वरन हौं, सनौढिया कहावतु हौं,
गोकरन गोतु सब तैं अगाऊ को ।
रामु परदादो, दादो गदाधर जानियतु
कंपिला में ठाउँ, नाउँ मानिक पिताऊ को ।
नंद नीलचंद के करी है कृपा वाजचंद,
वाही हैं अधिक हितू, हितू औ बटाऊ को ।
जे सुने कबितु, सोइ चितु दै कै बूझतु है,
कौन पुरुषोत्तम जु कवि है कुमाऊँ कौ ॥३॥

'अमरु शतक भाषा'[1] में भी कवि ने अपना परिचय यों दिया है :

सकल पुहुमि परसिद्ध है, नगर कंपिला नांउ
बड़े बड़े कविता तहाँ, कविताई को ठांउ ।३।
सहसकृतु पढ़िकै कछू, भाषा करै कबित्तु
पुरुषोत्तम कवि नाम है, सकल कविनि को मित्तु ।४।
पुरुषोत्तम कवि चाकरी, करी कुमाऊँ आइ
वाज बहादुर चंद नृप, कीनी कृपा बनाइ ।५।
चंद वंस अवतंस जे, कीरति अंस विसाल ।
कूरम परबत सी भए, बड़े बड़े भुवपाल ।६।
ताही कुल मैं है लयो, वाजचंद अवतारु
तेग त्याग अरु भाग को, भाषतु हौं व्यवहारु ।७।

पाउत ही राजु, पाउ तहाँ रोपि अंगद लौं
उमराव दखिनी उठाइ दयो आहियो ।

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ०—
७०—७१

बहुरि कीवार है पहार जीते पूरब के,
मिली हो पहार साहि सूरी जो सिपाहियो
भिगुनी कौ जारि कै, उजारि ज्यौं नीपांदी धान,
लुह वाहू मारि तेजु कहां लौं सराहियौ ।
नंद नीलचंद के कमाऊँ पति वाजचंद,
सबरे वसंत की सपथ कियौ चाहिए ।।

इन दोनों ग्रन्थों के अवतरणों से कवि पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में ये सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) पुरुषोत्तम कंपिला के रहने वाले गोकरण गोत्र के सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये राम के प्रपौत्र, गदाधर के पौत्र और मानिक के पुत्र थे।

(२) पुरुषोत्तम कवि ने पहले संस्कृत पढ़ी, तदनन्तर भाषा में कविता भी करने लगे।

(३) पुरुषोत्तम कवि ने कुमाऊँ जाकर वहाँ के चंद्रवंशी राजा, नीलचंद्र के पुत्र, वाजचंद या वाजबहादुर चन्द के यहाँ चाकरी की थी।

पुरुषोत्तम का रचनाकाल संवत् १७००-१७२० है। इन्होंने संवत् १७०१ में 'हनुदूत' की रचना की।

पराक्रम पूरो पौन-पूत कौ सुनि कै मन,
इच्छा भई बरनौं जिसतैं राजी रामु है।
संवत हौ दस सात-सत अरु एक जहाँ,
माघ वदी छठि जा महीना पुनि-धामु है ।।
सुभ बुधवासर सुफलु सुभ घरी पुनि,
महा सुभ नखतु निपट सुभ नाम है।
करी तहाँ ख्याती पुरुषोत्तम बनाइ करि,
घरो याको नीको 'हनुमान दूतु' नाम है ।।

और वाजचंद की आज्ञा से संवत् १७२० पूष वदी २ रविवार को 'अमरु शतक' भाषा की—

बरननु करि सब बरन कौ, अरथु सकल समुझाइ।
अमरु शतक सम रूप कै, भाषा ग्रंथु बनाइ ।।१५।।

आइसु जब ऐसे भयो, आइ सु बैठो चित्त।
तबै अमरु शत के करे, भाषा प्रगट कवित्त ॥१६॥
संवत् सत्रह सै बरस, बीती है जहँ बीस।
द्वैज पौष वदि, बार रबि, पुष्य नक्षत्र को ईस ॥२१॥

'हनुदूत' में कुल १०४ छन्द एवं अमरु शतक भाषा में कुल १२२ छन्द हैं। अमरु शतक भाषा के अन्तिम छन्द में छंदांक दिया गया है—

पुरुषौत्तम भाषा कर्‌यो, लखि सुरबानी पंथु।
इति श्री सिगर्‌यो है भये, अमरु शतक यह ग्रंथु ॥ १२२ ॥

दोनों ग्रंथ अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में हैं। 'खोज' में अमरु शतक के किसी श्लोक का अनुवाद नही दिया गया है। पर ग्रन्थ के मंगलाचरण सम्बन्धी जो दो दोहे हैं, वे अनुवादक के सुकवि होने के प्रमाण हैं—

(१)
पूजै को सरवर गुननि, पूजै जाहि महेसु।
जाके दान गनै सु को, ऐसो देव गनेसु॥

(२)
तारा बलु तौ चन्द्र बलु, चंदु भलें भलौ भानु।
जो सु भवानी होइ सुभ, तो सुभ वानी मानु॥

४. अमरु, बिहारी और पद्‌मसिह शर्मा

पद्‌मसिह शर्मा विहारी पर फिदा थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि विहारी को श्रृङ्गारी मुक्तकों का सर्वश्रेष्ठ रचयिता सिद्ध किया जाय। इसलिए उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी के विहारी से पूर्ववर्ती कवियों के छन्दों के भाव का साम्य विहारी की रचनाओं में दिखाकर कहा है कि विहारी एक ही भाव-भूमि पर लेखनी चलाकर भी उन पूर्ववर्ती कवियों से किस प्रकार बाजी मार ले गए हैं, इसी प्रकार परवर्ती कवियों की रचनाओं में विहारी के भावों की छाया दिखाकर कहा है कि किस प्रकार परवर्ती कवि विहारी की छाया भी नहीं छू सके हैं। विहारी ने अमरु के अनेक श्लोकों का भाव अपनाया है। पुराने कवियों के प्रकरण में शर्मा जी ने अमरु शतक के चार श्लोकों की तुलना विहारी के दोहों से की है और अमरु शतक के इन छन्दों को 'सो सो' कहा है, 'जो कुछ है, सो है' कहा है। मैं आगे की पंक्तियों में शर्मा जी की समीक्षा का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

(१)

श्लोक—तप्ते महाविरहवह्नि शिखावलीभि—
रापाण्डुरस्तनतटे हृदयो प्रियायाः
मन्मार्गवीक्षण निवेशित दीनदृष्टे—
र्नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति । ८६

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोक से यह पाठ भेद है—

(१) मन्मार्ग = रथ्यालि

(२) छमच्छमिति = छनच्छनिति

'मन्मार्ग' कहने से स्पष्ट है कि प्रवासी पति यह विवरण अपने अंतरंग सखा के सामने प्रस्तुत कर रहा है। 'रथ्यालि' कहने से यह बहुत स्पष्ट नहीं होता। 'छमच्छमिति' में तो 'छम छम' की वह ध्वनि आती है, जो नर्तकियों के घूघुर से निकलती हैं, 'छनच्छनिति' से 'छनछनाने' की ध्वनि आती है। गर्म तवे पर जब पानी की बूंदें गिरती हैं, तब वे 'छन छन' की ध्वनि करती हुई भाप बनकर उड़ जाती हैं। शर्मा जी ने यद्यपि 'छनछनाने' का ही अर्थ लिया है, पर जो पाठ उन्होंने ग्रहण किया है, उससे उक्त अर्थ निकलता नहीं।

इस श्लोक का भाव लेकर विहारी ने निम्नांकित दोहा रचा—

पलनि प्रगटि, बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहराय
अँसुवा परि छतियां छनक, छनछनाय छपि जाय ।।४२६।।

शर्मा जी लिखते हैं—

"इस दोहे की रचना के समय विहारी की दृष्टि में अमरुक का यह "छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति" "नूनं" घूम रहा था। तथापि दोहा उससे कहीं उत्कृष्ट हो गया है। दोहे में शब्द चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ चमत्कार का आधिक्य भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। अमरुक के यहाँ वाष्पकणों के छनछन करके गिरने का कारण "महाविरहवह्निशिखावलिभिस्तप्ते" पद में स्पष्ट है, पर विहारी के यहाँ यह बात छिपी है, इतनी कसर जरूर है। अमरुक के पद्य में विरह के साथ महत् पद अच्छा नहीं—यह बड़े अनर्थ की सूचना दे रहा है, महाविरह 'पद' महानिद्रा, 'महायात्रा' की तरह 'मृत्यु विरह' की अमंगलता का सूचक है—परन्तु अमरुक की विरहिणी का नायक महाप्राणता की कृपा से अभी विद्यमान है, वही तो यह कह रहा है कि "मन्मार्गवीक्षण

निर्त्रै शतदीनदृष्टेः'' इतनी खैर है। इसने अमंगलता के पाँव जमने नहीं दिए, वात आई गई हुई। अमरुक के ''वाष्पकणाः पतन्ति'' से प्रकट है कि वाष्पकण नीचे गिर रहे हैं, छन छनाकर छिप नहीं जाते। विहारी के यहाँ संतापाधिक्य बहुत ही प्रबल है, वहाँ आँसू गिर नहीं सकते, छनछनाकर वहीं छिप जाते हैं। विहारी ने आँसुओं की उत्पत्ति और पतन का प्रकार बहुत विलक्षणता से कथन किया है। इसमें एक खास चमत्कार है। ''बरुनीनि बढ़ि'' से बरोनियों की सघनता और वियोग चिंता में अर्धनिमीलन दशा की प्रतीति होती है—भारी आँखें बिलकुल खुली हों तो पलकें ऊपर को उठी रहने से, और बिलकुल बन्द हों तो पलकों के सिरे नीचे को होने से—आँसू इकट्ठे होकर बढ़कर—नहीं गिर सकते। ''नहिं कपोल ठहरायँ'' से कपोल की श्लक्षणता, स्निग्धता की ध्वनि निकलती है। जहाँ निगाह के पाँव रपटते हैं, वहाँ पानी की बूंदें कैसे ठहर सकती हैं। ''परि छतियाँ छनक, छनछनाय छपि जायँ'' में ''छनक'' पद से आंसुओं की अधिकता और निरंतर पतन—(आंसू थोड़े हों तो क्षणभर भी नहीं ठहर सकते)। ''छनछनाय छपि जायँ'' से वियोग संताप का आधिक्य व्यंग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि काव्य का उत्तम उदाहरण है और अमरुक का पद्य, बस समझ लीजिये इसके सामने जो कुछ है, सो है।

अब शर्मा जी की समीक्षा का विश्लेषण लें :

(१) शर्मा जी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि विहारी जब अपना दोहा लिखने लगे तब उनकी दृष्टि में अमरुक का श्लोक घूम रहा था। उनका यह स्वीकरण अमरु के साथ कोई कृपा नहीं है, न्याय है।

(२) शर्मा जी का मत है कि उक्त दोहा श्लोक से कहीं उत्कृष्ट हो गया है दोहे में शब्द चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ चमत्कार का आधिक्य भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। आगे चलकर शर्मा जी ने अर्थ चमत्कार का आधिक्य दिखाने का प्रयत्न किया है, शब्द चमत्कार का उन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया है। उनका संकेत 'पलनि प्रगटि' में 'प' की तथा 'वरुनीनि बढ़ि' में 'ब' की आवृत्ति द्वारा उत्पन्न 'छेकानुप्रास' तथा 'छतियां छनक छनछनाय छपि' में 'छ' की आवृत्ति द्वारा उत्पन्न 'वृत्यनुप्रास' की ओर है। उक्त श्लोक में भी 'विरह वह्नि', 'स्तन तटे', 'हृदये प्रियायाः' 'दीन दृष्टे' में चार बार छेकानुप्रास है; और विहारी में जो वृत्यनुप्रास है, वह तो 'छनच्छनिति' का छना हुआ रूप ही है। स्पष्ट है 'विहारी के दोहे' में श्लोक से कोई भी शब्द चमत्कार अधिक

नहीं । छेकानुप्रास हिन्दी की कविता के लिए कोई असाधारण तत्व नहीं है, जो हमारा ध्यान विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट कर सके । वह तो हिन्दी में बात-बात में मिलता है ।

(३) शर्मा जी ने स्वीकार किया है कि अमरु में आंसुओं के गिरने का कारण स्पष्ट है, 'विहारी के यहाँ यह बात छिपी है, इतनी कसर जरूर है ।'

(४) शर्मा जी को 'महाविरह' पर आपत्ति है, यद्यपि उसका निराकरण भी उन्होंने स्वयं कर दिया है । 'महा विरह' के 'मृत्यु विरह' अर्थ पर मुझे भी आपत्ति है । क्या जहाँ-जहाँ 'महा' शब्द जुड़ता जायगा, सर्वत्र बुरा अर्थ देता जायगा । यदि ऐसा है तो महाराज, महाजन, महामना, महाशय, महामहिम, महाकाय, महाकाल, महाकाली, महाकाव्य, महात्मा, महादेव, महादेवी, महादेश, महानुभाव, महापुरुष, महाप्रभु, महाप्राण, महाबलाधिकृत, महाभाग, महाभारत, महामंत्री, महामति, महामाई, महाबप्पा, महामाया, महारथी, महाराजाधिराज, महाराजा, महारानी, महाराष्ट्र आदि-आदि शब्दों का हम क्या अर्थ करें, शर्मा जी महाराज हमें स्वयं बताएँ । क्या उनका प्रचलित अर्थ पलट दिया जाय ? और शब्दकोषों में संशोधन कर दिया जाय ? शर्मा जी आँसुओं के छनछनाकर छिप जाने की बड़ी तारीफ करते हैं । ऐसा लगता है नायिका की छतिया क्या है, कोई थैली है जिसमें मोती से बड़े-बड़े आँसू छिप जाते हैं । छिपने का अर्थ है कि वह वस्तु ज्यों की त्यों बनी हुई है, केवल आँख की ओट हो गई है । अफसोस है कि विहारी ऐसा सूझबूझ का कवि छली 'छ' के अनुप्रास में छला गया, जिसकी ओर गर्व के साथ शर्माजी ने छैल सदृश गूढ़ संकेत किया है । विहारी का यह अभिप्राय नहीं है और न शर्मा जी का ही । विहारी का अभिप्राय है कि आँसू की बूदें गिरती हैं और गिरते ही भाप बनकर उड़ जाती हैं । पर छिपना शब्द यह अर्थ देने में असमर्थ है । अत: असमर्थ पदत्व शेष है ।

(५)शर्मा जी के ही शब्दों में 'विहारी के यहाँ संतापाधिक्य बहुत ही प्रबल है ।' 'छनछनाय छपि जायँ' से वियोग संताप का आधिक्य व्यंग्य है । विहारी की नायिका के तापाधिक्य के शर्मा जी परम प्रशंसक हैं । उन्होंने सर्वत्र इसकी प्रशंसा की है । हम तो मनमथ महाराज की इसे उदारता ही मानते हैं कि उन्होंने विचारी के शरीर पर आबले नहीं पड़ने दिए, तापाधिक्य में तो यही होता है । आंसुओं के छिप जाने में अथवा भाप बनकर उड़ जाने में हमें न तो स्वाभाविकता दिखाई देती है और न ऐसी लगो बातें कोई दूसरा ही पसन्द करता है । अमरु की नायिका के स्तन पर पड़ी बूदें छनछनाती हैं, फिर तुरन्त

गिर जाती हैं। स्पष्ट है कि इसका विरहताप विहारी की नायिका के विरह ताप से कम है और यह बहुत अच्छा है, खुदा का शुक्र है।

(६) शर्मा जी ने 'बरुनीनि की' और 'नहिं कपोल ठहरायँ' का विवेचन बड़ी बारीकी से करके अर्थातिशय की स्थापना की है। पर यह ध्वन्यात्मकता महाकवि कालिदास के कुमार सम्भव (सर्ग ५, श्लोक २४) से उधार ली गई है और इसका गौरव विहारी को नहीं दिया जा सकता। जिस बारीकी से उन्होंने विहारी की नायिका को देखा है, अमरु की नायिका को वह कृपा-दृष्टि नहीं सुलभ हो सकी है, यह उसका दुर्भाग्य ही है। विरह से पीली पड़ी नायिका का जो चित्र अमरु के 'पाण्डुर स्तन तटे', से व्यक्त होता है, वह विहारी में दुर्लभ है। साथ ही 'स्तन तट' के तनाव और 'छतियाँ' के प्रसार पर भी सहृदयों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

(७) विहारी के दोहे अपने प्रसंग-गर्भत्व के लिए प्रसिद्ध हैं। बिना प्रसंगों की ठीक कल्पना किये वे कभी-कभी कूट से लगने सगते हैं। अमरु के श्लोक में स्पष्ट है कि परदेशी नायक अपनी प्रिया की सुधि करके उसका काल्पनिक चित्र मानस पटल पर उतार कर उसे अपने अंतरंग सखा को दिखलाता है, पर क्या यही बात दोहे के सम्बन्ध में भी इसी सुनिश्चितता के साथ कही जा सकती है ? 'मन्मार्गवीक्षण निवेशित दीन दृष्टे:' से पथ देखती पीली पड़ी प्रिया सहृदय पाठक के लिए प्रत्यक्ष हो जाती है। उरोजों पर छन-छन करते आँसुओं वाली नायिका का जो चित्र विहारी ने अमरु के यहाँ से उधार लिया, अधूरा लिया। उसमें वह संश्लिष्टता नहीं।

(८) 'छनक' पद में आँसुओं की अधिकता और निरन्तर पतन की जो ध्वनि शर्मा जी ने स्वीकार की है, मैं समझता हूँ कि वह बहुत ठीक नहीं, कहना चाहिए बहुत अधिक है।

(९) शर्मा जी का कथन है कि 'वाच्यातिशयी' व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि काव्य का उत्तम उदाहरण है, और अमरुक का पद्य, बस समझ लीजिए इसके समान जो कुछ है, सो है। 'ध्वनि वही उत्तम समझीं जाती है जो वाच्यार्थ से श्रेष्ठ हो, यहाँ जब नायिका का तापाधिक्य दिखाना ही कवि का अभीष्ट है, यही ध्वनि है, तो यह सामान्य अर्थ से किसी भी प्रकार उत्तम नहीं है और ऐसी ध्वनि काव्य के लिए बहुत उपयोगी नहीं। यह अधम कोटि की ध्वनि है। ऐसी अधम ध्वनियाँ अमरु के वाच्यार्थ पर निछावर कर देने योग्य

हैं। अमरु के श्लोक में 'पतंति' की ध्वनि ध्यान देने योग्य है—कहाँ पतंति' ? नाभि सरोवरी में। नाभि की गहराई में मन डूब-डूब जाता है। अमरु के श्लोक को शर्मा जी ने 'पद्य' कहकर उसके कोरी तुकबन्दी होने का संकेत किया है। अब यह सुधी पाठकों पर निर्भर करता है कि वे श्लोक और दोहे को तौलकर देखें किसमें सौष्ठव अधिक है। क्या अमरु का श्लोक'पद्य' है और विहारी का दोहा 'कविता' ?

भाई मुद्गल जी ने शर्मा जी पर इस प्रहार (?) को देखकर 'छपि जायँ' का एक नया अर्थ छप जाना, अंकित हो जाना, मुद्रित हो जाना किया है, पर स्वयं शर्मा जी ने 'छिपना' ही अर्थ किया है; रत्नाकर जी ने भी 'छिपना' अर्थ किया है और 'विहारी रत्नाकर' में तो पाठ भी छिपि जांय' है।

(२)

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामलोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुंबिता ॥८२।७७

इस श्लोक को विहारी ने निम्नांकित दोहे के रूप में प्रस्तुत किया है—

मैं मिसहा सोयो समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरै लपटाय ॥ २१४

इस प्रसंग में शर्मा जी लिखते हैं—

'अमरुक का यह पद्य साहित्यपाठियों में बहुत प्रसिद्ध है। इसकी व्याख्या यहाँ नहीं की जायगी। केवल इतना निवेदन ही पर्याप्त होगा कि विहारी का यह दोहा अमरुक के इसी प्रसिद्ध पद्य का 'तुल्यदेहितुल्य' प्रतिद्वन्द्वी है। अमरुक ने जिस गोपनीय घटना को अपने पद्य में विशद व्याख्या करके रसिकों को चौंका दिया है, ठीक उसी घटना का उक्ति वैचित्र्य से विहारी ने भी वर्णन किया है, और हम समझते हैं खूब किया है। खासकर दोहे का उत्तरार्द्ध बहुत ही उत्तम हो गया है। उसमें पर्याय व्यापारों का बड़ा ही मनोहर शब्द चित्र खिंच गया है। फिर दोहे की शब्द-स्थापना पर ध्यान दीजिए, कितना गढ़कर दृढ़ता से संधि मिलाकर शब्दों को बिठलाया है कि जरा भी कहीं शिथिलता का नाम नहीं, एक मात्रा भी इधर उधर नहीं हो सकती—'हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरै लपटाय, 'अँगूठी पर नगीने से जड़ दिये हैं।'

अब इसका विश्लेषण लें—

(१) शर्मा जी विहारी के दोहे को अमरु के श्लोक का 'प्रतिद्वन्द्वी' मानते हैं। मुझे प्रतिद्वन्द्वी शब्द पर आपत्ति है, और यदि इस अर्थ में प्रचलित 'आपत्ति' शब्द के प्रयोग पर शर्मा जी को आपत्ति है तो 'विप्रतिपत्ति' है । प्रतिद्वन्द्विता दो समान स्तर के लोगों में होती है, असमान स्तर के लोगों में नहीं। विहारी का दोहा अमरु के श्लोक का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, उसी भाव पर असंदिग्ध रूप से बना है, उसी का भावानुवाद है, फिर मूल से अनुवाद की प्रतिद्वन्द्विता कैसी ? यह तो ठीक राष्ट्रसंघ-कश्मीर-न्याय है ।

(२) शर्मा जी का कथन है, 'अमरुक ने जिस गोपनीय घटना की अपने पद्य में विशद व्याख्या करके रसिकों को चौंका दिया है, ठीक उसी घटना का वैचित्र्य से विहारी ने भी वर्णन किया है, और हम समझते हैं खूब किया है।' अमरु के काव्य की बहुत बड़ी विशेषता है उसकी चित्रमयता एवं मनोविज्ञानानुकूलता। अब श्लोक पर ध्यान दें। घर में केवल पति पत्नी हैं, दूसरा कोई नहीं। पति ने आंखें मूंद लीं, लेट रहा, लगा जैसे सो रहा हो, वह वस्तुतः सो नहीं गया। नायिका सेज से कुछ-कुछ उठी, पूरी नहीं उठी, उस सूने घर में भी उसने बड़ी देर तक पति के मुख को देखा और निश्चित हो गई कि पति वस्तुत: सो गया, तब कहीं जाकर उसने उसे चूमा। यह भाव विहारी के दोहे के इस दल में कहाँ है—

'मैं पिसहा सोयो समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय'

वातावरण की सृष्टि की ही नहीं गई। क्या खूब है नायिका उठी और उसने झट से चूम लिया। उद्दीपन की कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वह सदैव उद्दीप्त रहती है, स्वयं उद्दीप्त रहती है। पुनः यह 'ढिग जाय' तो अधिक पदत्व का खुलेआम ढिंढोरा पीट रहा है—क्या नायिका बिना 'ढिग' गए हुए भी, दूर से ही लग्गी के सहारे, कमंद के सहारे, नायक को चूम सकती थी ? जब उसने चूमने की गलती की, तब ढिग जाने की गलती उससे उसके पहले ही अपने आप हो गई, जो चूमने की क्रिया में स्वत: निहित है। एक छोटे से दोहे में अधिक-पदत्व की यह बेबसी क्यों ?

श्लोक में नायक नायिका द्वारा चूमे जाने पर तुरन्त हँस नहीं पड़ता, वह तो अपनी संहृति पर स्थित रहना चाहता है, पर है लाचार, सात्विक भावों पर किसी का बस नहीं, उसके कपोलों पर रोमांच हो जाता है। नायिका परम चतुरा है, नागरी है, वह ताड़ जाती है और लजा जाती है, 'लज्जा

नम्रमुखी' हो जाती है। यह सब विहारी के दोहे में कहाँ है ? विहारी के यहाँ तो नायिका ने चूमा, नायक पहले से हँसने के लिए तैयार बैठा था, सो हँस पड़ा, शायद ठठाकर, तभी तो नायिका लजाई नहीं, खिसाई। कहाँ 'लज्जानम्रमुखी' और कहाँ 'खिसानी'? 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' यही शर्मा जी का 'खूब किया है' है ? अमरु के श्लोक में नायिका के लजा जाने के पश्चात् नायक उसकी इस अवर्णनीय स्थिति को देखकर मुसकुरा पड़ता है, यह विहारी के नायक की भाँति नायिका को खिसाने के लिए ठठाकर नहीं हँसता। अमरु ने नायिका के लिए जो परिस्थितियाँ गढ़ी हैं, प्रायः वे ही परिस्थितियाँ नायक के लिए भी। नायिका ने नायक को सोया जानकर बहुत देर तक उसके मुख को देखते रहने के अनन्तर चूमा था। नायक ने भी नायिका को 'लज्जानम्रमुखी' देख चूमा; लज्जा ने उद्दीपन का कार्य किया, हाव बन गई और 'नम्रमुखी' ने अवसर दिया। यह सभी बातें दोहे में हैं कहीं ?

(३) शर्मा जी ने विहारी के दोहे के द्वितीय दल की प्रशंसा की है। मैं उसके भाव सौन्दर्य का कायल नहीं, जैसा मैंने ऊपर दिखाया है; पर जिस शब्द स्थापना की प्रशंसा शर्मा जी ने की है, मैं भी उसे स्वीकार करता हूँ। पर यह शिव की प्रशंसा न होकर शव की प्रशंसा है। विहारी अपनी समास शैली के लिए उचित ही प्रसिद्ध हैं और उसके लिए दोहे का द्वितीय दल अच्छी साखी है। इस गुण के लिए अमरु का यह श्लोक देखें, नगीने की जड़ाई की तुलना कर लें,—बाले, नाथ, विमुंच मानिनी रूषं—

(४) अमरु की नायिका स्पष्ट ही मध्या है, विहारी की प्रौढ़ा। विहारी ने मध्या को अपनाकर उसे जो प्रौढ़ा बना दिया है, यह असमीचीन है। अपनी अपनी रुचि है।

(५) अमरु का श्लोक नायिका की एक अंतरंग सखी का कथन दूसरी अंतरंग सखी से है। बिहारी के दोहे में तो नायिका स्वयं टपाटप कहती जा रही है, यह भी उसके प्रौढ़त्व का परिचायक है। शर्मा जी ने अमरु के श्लोक की व्याख्या नहीं की, इसका कारण वे पाद टिप्पणी में देते हुए लिखते हैं—

'व्याख्या करते संकोच होता है, डर लगता है कि 'अर्वाचीन साहित्य विवेचना' कार माननीय मित्र श्रीमान् साहित्याचार्य पण्डित शालग्राम जी शास्त्री, कहीं दुबारा न बरस पड़ें। उनकी आज्ञा है कि इस श्लोक की व्याख्या स्तुति न की जाय।

'आदर्शों मणिरेव बाथ हृदयं येषां परार्थग्रहे
ये वा भाविनि भारतीयविभवे सर्ग प्रतिष्ठापकाः
येषां चारुचरित्ररक्षणविधौ प्रेक्ष्यं सदा शिक्षकैः
'शून्यं वासगृहं' स्तुवन्ति गुरवो हा हन्त तेषां पुरः'

(अर्वाचीन साहित्य विवेचना)

इस पद्य का पूर्व प्रकृत गद्यस्थ 'किशोरकायां' तथा पद्यस्थ 'गुरवः' पद उपलक्षण हैं अन्य श्रोता और वक्ता के भी।

शास्त्रकार और सहृदय में सदैव अन्तर रहा है। दोनों अपने अपने ढंग से अपना कार्य करते रहे हैं। शालिग्राम जी शास्त्री ने अपना काम किया, शर्मा जी को अपना काम करना चाहिए था। बिना व्याख्या के कहीं जौहर खुलता है।

(६) अन्त में शर्मा जी का इस श्लोक के सम्बन्ध में एक और कथन है—

'और अमरुक का उक्त पद्य रसगंगाधर कार के मत में 'सुतरामश्रव्य' (कर्णकटु) है तथा कवि के निर्माण सामग्री-दारिद्रय को प्रकट करने वाला है। एक ही पद्य में पाँच बार 'क्त्वा' की और दो बार 'लोकति' का प्रयोग कवि के शब्द दारिद्रय का सूचक है।'

कर्णकटुता तो संस्कृत के बड़े से बड़े कवि की रचना में ढूँढ निकाली जा सकती है, उससे महाकवि कालिदास तक की रचना नहीं बची है। मेघदूत के दूसरे श्लोक में ही यह श्रुतिकटुता आसानी से मिल जाती है—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला विप्रयुक्तः स कामी।
नीत्वा मासान्कनकबलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः॥

इसमें प्रयुक्त 'विप्रयुक्तः' और 'अंशरिक्तप्रकोष्ठः' में यह दोष है। बिहारी के इस दोहे में 'मुँह चूम्यो' में स्पष्ट ही ग्राम्यत्व दोष है, जो उनकी अति-प्रशंसित नागरता के विपरीत है। आगे उद्धृत विहारी के दोहे में आए 'टला-टली' की श्रुति मधुरता का क्या कहना है।

(३)

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि

शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः २७ । २३

बिहारी ने इस श्लोक का अनुवाद इस दोहे में किया है—

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाय ।
कैकै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय ।। ३६

शर्मा जी लिखते हैं—

'यहाँ भी बिहारी ने अमरुक के 'प्रबंधशतायमान' पक्ष से अपने दोहे की टक्कर लड़ाई है, 'शार्दूलविक्रीडित' का दोहे की दुनाली बन्दूक से मुकाबला किया है और खूब किया है, निशाना मार लिया है। अमरुक के फूलों की टोकरी का बिहारी ने अपने दोहे की शीशी में किस खूबी से अतर खींचकर रख दिया है !

पद्य के पूर्वार्ध का भाव 'पति रति की बतियाँ कहीं' इतने में ही आ गया है। पद्य में सखी समाज के सामने हाथापाई की काररवाई, सभ्यता की सीमा का उल्लंघन कर गई है। बिहारी ने उसे रति की बतियाँ में परिणत करके औचित्य के अन्दर ला दिया है। पद्य के 'अलीकवचनोपन्यासं' का सार 'टलाटली' इस वाक्य बिन्दु में है। 'आलीजना निर्यातः' को 'अली चली' समझिए। 'सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितः' इस समस्त वाक्य की बखिया उधेड़ कर 'सखी लखी मुसकाय' और 'सुख पाय' से पृथक्-पृथक् टुकड़े कर दिए हैं।

अब चाहे इसे छायापहरण समझिए या अर्थाहरण कहिए या अनुवाद नाम रखिए, जो कुछ भी हो, है अद्भुत लीला। इससे अच्छा और हो नहीं सकता। इस पर पदावली कितनी श्रुतिमधुर है, अनुप्रास का रूप कितना मनोहर है कि सुनते और देखते ही बनता है।'

उक्त श्लोक का भाव है—

'हे मुग्धाक्षि प्रियतमे ! बिना कंचुकी के ही तुम मनोहारिणी छवि धारण करती हो,' ऐसा कहकर नायक ने नायिका की चोली की पीठ पर बँधी गाँठ को छू लिया। प्रिय के इस व्यवहार से नायिका के नेत्र खिल गए। उसे इस प्रकार प्रमुदित देख, उसके आनन्द से आनन्दित हो, सेज के निकट बैठी हुई उसकी सहेलियाँ, बहाने बनाती हुई बाहर चली गईं।'

मैं इस बात का समर्थन करता हूँ कि अमरु शतक के इस शार्दूल विक्रीडित

का बिहारी ने अपने दोहे की दुनाली बन्दूक से निशाना मार लिया है। पद्मसिंह शर्मा के और मेरे कथन में लक्षणा और अभिधा का अन्तर है। बिहारी ने श्लोक के पूर्वार्ध को 'पति रति की बतियाँ कहीं' इतने में ही कह दिया है। शर्मा जी ने इसे फूलों की टोकरी का दोहे की शीशी में खींचा हुआ अतर कहा है। यह दोहा अतर है अथवा इतर कुछ; इतना निश्चय है कि जिस प्रकार जिन फूलों से अतर बनाया जाता है, उनका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अमरु के श्लोक का भी सारा भाव-सौन्दर्य इस दोहे के रूप में आकर नष्ट हो गया है। 'त्वंविनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं लक्ष्मी' के ध्वनि सौन्दर्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया है। और नायक ने प्रिया की पीठ पर स्थित कंचुकी-ग्रंथि को जो छू लिया है, उसे उन्होंने हाथापाई की संज्ञा दी है तथा इसे सभ्यता के विरुद्ध कहा है। हाथापाई के लिए दोनों पक्षों को सक्रिय होना चाहिए, यहाँ केवल नायक के सक्रिय होने से हाथापाई कैसे सम्भव है? अमरु के नायक ने अपने कथन से नायिका के सौन्दर्य की संवर्द्धना की है और रति की ओर पीठ पर बंधी कंचुकि–ग्रंथि को छूकर संकेत किया है, हाथापाई नहीं की है। अमरु के नायक ने जो बात इशारे से कही है, बिहारी का नायक उसी को स्पष्ट शब्दों में कहता है। अमरु का नायक नागर है, नायिका नागरी है और सखियाँ भी विदग्धा हैं। अमरु के यहाँ 'अक्लमंदारा इशारा काफ़ी अस्त' का मामला है। बिहारी का यह नायक मंदअक्ल है, क्योंकि वह शब्दों में रति की याचना करता है और वह भी सखियों के सामने। रति की याचना शब्दों में नहीं की जाती। साथ ही जैसा वह मंदअक्ल है, नायिका एवं सखियों को भी वह वैसा ही समझता है, आप डूबा तो जग डूबा। वह समझता है कि नायिका और सखियाँ इशारे से उसकी बातें नहीं समझेंगी, इसलिए वह स्पष्ट शब्दों में कहने की बेहयाई करता है और उसकी तारीफ पद्म सिंह शर्मा जैसा पकड़ का आलोचक करता है। और उसे औचित्य के भीतर कहता है। स्पष्ट ही यहाँ 'चुंवनं देहि मे भार्ये कामचांडाल तृप्तये' की कोटि का ग्राम्यत्व दोष है।

अमरु ने श्लोक के पूर्वार्द्ध में जो कुछ कहा है, उसका हमारे कल्पना-चक्षुओं के सामने एक चित्र बनता है। बिहारी ने जो कुछ कहा है, उससे कोई चित्र नहीं बनता। काव्य में बिम्ब ग्रहण का महत्व है, विज्ञान में अर्थग्रहण का; इसे सभी लोग जानते हैं। 'पति रति की बतियाँ कहीं' में भाव निमग्न करने की शक्ति नहीं है। यह तो जैसे कोई 'रिपोर्ट' हो।

इस अवसर पर मुझे एक कथा याद आई। आश्विन का शुक्ल पक्ष था। एक गाँव में रामलीला हो रही थी। दो मुसलमान जुलाहे कहीं जाते हुए उस ओर आ निकले। एक ने कहा, 'चलो जरा देख लें, कोई तमाशा हो रहा है।' दूसरे ने कहा, क्या देखोगे, वहाँ क्या है—

'एक राम रहा, एक रावन्ना
एक था छतरी, एक बाभन्ना।
वाने वाकी तिया हरी
वाने वाकी मौत करी
बात रही इक बातन माँ
तुलसी लिखिगा पोथन माँ ।।

अब कोई कहे कि उस जुलाहे ने 'रामचरितमानस' रूपी फूलों का इत्र निकाल कर इन छह पंक्तियों में रख दिया है। तो कैसा रहे? कोई इसे स्वीकार करेगा कि वह तुलसी से बढ़ गया?

अब आइए सभ्यता असभ्यता की ओर। यहाँ भी मैं एक कथा कहूँगा। फारसी में प्रायः सभी बातें आशिक की ओर से माशूक को कही जाती है, उसकी बेवफाई का रोना रोया जाता है। अमीर खुसरो भारत की मिट्टी के कवि थे। उन्होंने अपनी किसी फारसी कविता में नायिका की ओर से पुरुष की बेवफाई का वर्णन किया। सम्भवत: उन्होंने खण्डिता नायिका का कोई उपालंभ फारसी भाषा में चित्रित किया। दरबार में लोगों की भौंहें चढ़ गई, कोई पुरुष अपनी पत्नी से ऐसी बातें कैसे कहेगा? खुसरू की शामत आ गई। उन्हें स्पष्ट करना पड़ा कि यह पुरुष की उक्ति नहीं है, स्त्री की उक्ति है और भारतीय कविता में ऐसा ही वर्णन होता है। परम्परा से अनभिज्ञ जिन लोगों की नाक भौं चढ़ गई थी, अब उनकी समझ में बात आई।

ठीक यही स्थिति अमरुक की है। अमरुक जनसाधारण के कवि नहीं हैं। राजाओं, रईसों, सामंतों के कवि हैं। उन्होंने उस समाज का चित्रण किया है जहाँ नायिका की अनेक सहेलियाँ होती थीं, जो सदैव उसके पास बनी रहती थीं और आमोद-प्रमोद में काल-यापन करती थीं; वे भी नायिका के विलास का एक उपकरण ही हुआ करती थीं और उनके सामने इस प्रकार के संकेत अनुचित और असभ्य नहीं थे। आज के समाज से इसका मेल नहीं, पर इसे तत्कालीन समाज को ध्यान में रखते हुए कैसे अनुचित और असभ्य कहा जा सकता है? साहित्य समाज का दर्पण है। अमरुक के काव्य में अमरुक कालीन

समाज का प्रतिबिम्ब देखना होगा, आज के समाज का नहीं। और उसी कसौटी पर उसके औचित्य अनौचित्य पर विचार करना होगा।

'टलाटली' पदावली की मधुरता की मैं दाद देता हूँ। इसी बात को तुलसीदास ने कितनी मर्यादा के साथ प्रस्तुत किया है—

उठी सखी हँसि, मिस करि, कहि मृदु बैन
सिय रघुवर के, भए उनींद नैन

(४)

मुग्धे मुग्धतयैव नैतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो ननु स मे प्राणेश्वरः श्रोस्यति ।।६७।।

हमारी पुस्तक में अन्तिम चरण में 'हि ननु मे' के स्थान पर 'ननु स मे 'पाठ है, इस श्लोक का विहारी कृत रूपांतर यह है—

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु, मो हिय बसत, सदा विहारी लाल।। ७१३।।

शर्मा जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

'अमरुक के इस पद्य रत्न ने भी साहित्य के जौहरियों से बड़ी कद्र और कीमत पाई है, इसकी भी बड़ी धूम है, और सचमुच है भी इसी योग्य। इसकी प्रशंसा में जो कुछ कहा जाय अनुचित नहीं है। इसका भाव है—नारद मुनि की चेली, कोई सहेली, किसी भोली भाली पतिप्राणा मुग्धा को 'मानविधि' का पाठ पढ़ाने बैठी है—'क्या इसी सिधलेपन से सारा समय बिताने की ठानी है ? ऐसे कैसे गुजारा होगा ? देख, धैर्यपूर्वक मान को धारण कर, प्रिय के साथ इस सरलता को काम में मत ला, जरा टेढ़ी बाँकी रह—'

'मानविधि' के इन विद्रोह भाव को सुनकर बेचारी मुग्धा के होश उड़ गए, हृदयेश्वर के साथ ऐसा विद्रोह ! विद्रोह-शिक्षा पर व्याख्यान देने वाला तो प्रेम राज्य में बच जाता है, पर श्रोता पर विपत्ति आ जाती है, इस डर से घबराई हुई मुग्धा कहती है—'ऊँचे मत बोल, मेरे हृदय में स्थित प्राणेश्वर कहीं न सुन पावें, चुप रहो' बिहारी का दोहा इसी की छाया है। पर ध्यान दीजिए तो एक बात में इससे बढ़ गया है। 'सखी सिखावत मान विधि' इस वाक्य में अमरुक

के पद्य के पूर्वार्ध का 'सख्यैवं प्रतिबोधिता' तक सब भाव आ गया है। मानविधि के प्रकार का इस प्रकार विस्तार से वर्णन न किया जाय तो कुछ हानि नहीं, प्रेम के पचड़ों से परिचित रसिक जनों के लिए यह कोई नई बात नहीं, उन्हें समझाने को 'मानविधि' इतना इशारा ही काफ़ी है। पद्य के 'मुग्धा' पद के मुकाबले में दोहे में 'बाला' पद है ही। 'नीचैः शंस' और 'हरए कहु' में भी भाषा भेद के सिवा कोई फरक नहीं। अब इसके आगे 'बिहारीलाल' का चमत्कार बहुत विलक्षण है। बिहारीलाल के दोहे की 'बाला' अमरुक की 'मुग्धा' की तरह शब्दों में नहीं कहती कि ऊँचे मत बोल, नहीं तो प्राणपति सुन लेंगे। 'वह' 'सैननि बरजति' आँखों के इशारे से निषेध करती है। वह इस प्रपंच प्रसंग में सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दों में मना करते भी डरती है, धीरे बोल, यह भी इशारे से समझाती है, सखी द्वारा इस प्रस्तुत प्रसंग में किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा, कंठ द्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरे से बोलने का इशारा भी इसलिए नहीं कर रही कि वह चुपके से सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित् इस कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बात पर सखी का उपहास न करे। अन्यथा जिसके हृदय में 'सदा बिहारीलाल' बस रहे हैं, वह चुपके से भी इस विद्रोह षड्यन्त्र में शरीक होने का कैसे साहस करेगी? यह जरा सोचने की बात है!

'हृदि स्थितो हि ननु में प्राणेश्वरः श्रोष्यति'

इसकी अपेक्षा 'मो हिय वसत सदा बिहारीलाल' में कहीं अधिक चमत्कार है। 'बिहारीलाल' पद यहाँ बड़ा ध्वनिपूर्ण है—सब जगह बिहार करने का जिनका स्वभाव है, जो पूरे हरजाई हैं, वह 'बिहारी' जब प्रेमाधीन हो, अपने स्वभाव को छोड़ मेरे हृदय में सदा बसते हैं, वहीं डेरा डाले हुए हैं--फिर मान को अवकाश कहाँ? धन्य बिहारीलाल तुम्हारी लीला!'

शर्मा जी का कथन सवा सोलह आने सही; पर उन्होंने 'प्राणेश्वर' के साथ अन्याय किया है, 'बिहारीलाल' के साथ न्याय। न्याय अवश्य हो, पर दूसरे के साथ अन्याय भी न हो। इस पद्य का 'प्राणेश्वर' शब्द अपूर्व व्यंजना लेकर आया है। अरे, वह मेरा ही नहीं, मेरे प्राणों तक का स्वामी है; तुम मुझे स्वामी से मान करने को कह रही हो, कहीं मैं ऐसा करने की कल्पना भी कर सकती हूँ? सखी, तुम्हारी चेष्टा व्यर्थ है; मुझे मान मनौवल के झगड़े में नहीं फँसना है; मैं तो दासी हूँ और दासी बनी रहना चाहती हूँ; अपने प्राणेश्वर की उपासिका'

—संस्कृत कवि दर्शन, पृष्ठ ५५०

शर्मा जी ने बिहारी के दोहे में दो विशेष बातें देखी हैं—एक तो बिहारीलाल शब्द का अर्थातिशय। इसका उत्तर डॉ० भोलाशंकर व्यास के 'प्राणेश्वर' शब्द की व्याख्या द्वारा ऊपर दिया जा चुका है। दूसरी विशेषता है नायिका का आँखों के इशारे से टोकना कि धीरे बोल। प्रश्न यह है कि क्या नायिका ने केवल इशारा किया, वह कुछ भी नहीं बोली। मैं समझता हूँ उसने इशारा तो किया ही, बोली भी—भले ही धीरे से बोली हो। दोनों बातें साथ-साथ चल सकती हैं, चलती हैं, और चली हैं। नायिका ने धीरे से कहा है और कम कहा है। वह गूँगी नहीं है। यदि शर्मा जी उसे गूँगी बना देना चाहते हैं, तो उनकी इच्छा। बिहारी की नायिका अमरु की नायिका से इशारा करने में तेज़ जरूर है, पर वह अंतरंग सखी से इशारा कर रही है, अतः कोई बुरा भी नहीं। शर्मा जी लिखते हैं—

'धीरे से बोलने का इशारा भी इसलिए नहीं कर रही कि वह चुपके से सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित इस कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बात पर सखी का उपहास न करे।'

मैं इससे भी सहमत नहीं हूँ। अमरुक और विहारी दोनों की नायिकाएँ सखी को कुछ कहने से इसलिए रोक रही हैं कि विहारीलाल अथवा प्राणेश्वर सुन लेंगे और वे मान के षड्यंत्र में भाग लेने की अपराधिनी समझ ली जाएँगी। यही एक भय है—सखी के उपहास-पात्र होने की बात बेतुकी है। मैं तो यहाँ तक कहना चाहूँगा कि दोनों नायिकाएँ मन ही मन मान विधि पर व्याख्यान सुनने के लिए लालायित हैं और अनुकूल अवसर पर उसका प्रयोग करने के लिए भी। मामला 'मन मन भावै, मुँड़िया हिलावे' का है। पर अभी दोनों 'मुग्धा' और 'बाला' हैं, अतएव काम-कला-प्रवीणा नहीं हो पाई हैं, मान करने से भी उन्हें झिझक है। मैं इतना पूर्ण विश्वास के साथ कहता हूँ कि 'प्राणेश्वर' की प्रिया भविष्य में चलकर भले मान न करे, पर 'सदाविहारी-लाल' की बाला के लिए मान करने को छोड़ कोई दूसरा चारा नहीं मिलेगा।

विहारी के कुछ और दोहे और अमरु शतक

इन चार दोहों के अतिरिक्त विहारी ने कुछ न कुछ और भी दोहे, अमरु के मुक्तिकों के आधार पर, बनाए हैं। इन्हें तुलनात्मक अध्ययन के लिए नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

(१)

एकस्मिन शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतोर
अन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीमवच्चक्षुषोः
भग्नो मानकलिः सहासरभसं व्यासक्तकण्ठग्रहः ।।१६।।

प्रिया प्रियतम एक ही सेज पर लेटे हैं, एक दूसरे से पराङ्मुख हैं, अतः उत्तर देना बन्द है, मूलतः दुःख उठा रहे हैं, दोनों के हृदयों में परस्पर मना लेने की भावना है, पर दोनों मान-गौरव की रक्षा में भी लगे हैं; फिर भी आँखों के मुड़ने से दृष्टि मिल गई और दोनों ने मुसकरा कर मान छोड़ दिया तथा एक दूसरे के गले से लग गए।

विहारी इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

खिचे मान अपराध हूँ, चलिगै बढ़े अचैन
जुरत दीठि, तजि रिस खिसी, हँसे दुहुन के नैन ।।६४६।।

नायिका के नेत्र मान से खिंचे हैं और नायक के अपराध से। अतः दोनों में एक दूसरे को देखने के लिए बेचैनी बढ़ गई है। फलतः दोनों के नयन दूसरे की ओर चले गये। दृष्टि मिल गई। नायिका के नेत्रों ने रिस छोड़ दी, नायक के नेत्रों ने खिस (लज्जा) और दोनों के नेत्र हँस पड़े।

विहारी ने बहुत अच्छे ढंग से अमरु के भाव को व्यक्त किया है, पर आगे पीछे दोनों ओर वे कुछ न कुछ छोड़ आये हैं, अतः चित्र पूरा बन नहीं पाता; चित्र स्थूल न होकर सूक्ष्म ही रह जाता है; यद्यपि अपने सूक्ष्म रूप में वह अमरु के मुक्तक से कहीं अधिक रमणीय है। अमरु के श्लोक के पूर्वार्द्ध का भाव उर्दू के इस शेर में भी व्यक्त हुआ है—

हम उनसे ख़फ़ा हैं, वह हमसे ख़फ़ा हैं
मगर बोलने को यह जी चाहता है

(२)

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते।
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ।।२४।।

मान की तैयारी में मैं पहले से ही भौहें टेढ़ी कर लेती हूँ, पर दृष्टि और भी उत्कण्ठा से उसे देखने लगती है, बोलने से अपने को रोकती हूँ, पर होठों पर हँसी आ ही जाती है, चित्त को कठोर बनाती हूँ, पर रोमांच हो ही जाता है; फिर मान का निर्वाह कैसे हो ?

विहारी का निम्नांकित दोहा अमरु के इस श्लोक का अनुवाद है—

सतर भौंह, रूखे वचन, करति कठिनु मनु नीठि ।
कहा करौं, ह्वै जाति, हरि हेरि, हँसौहीं डीठि ।।१०८।।

निम्नांकित दोहों में भी इसी श्लोक का प्रभाव एवं भाव वर्तमान है—

१. नाम सुनत ही ह्वै गयो, तब औरै मन और ।
दबै नहीं चित, चढ़ि रह्यौ, अबै चढ़ाये त्यौर ।।

२. दहैं निगोड़े नैन ए, गहैं न चेत अचेत ।
हौं कसिके रिस कौं करौं, ए निरखे हँसि देत ।।

(३)

पीतौ यतः प्रभृति कामपिपासितेन
तस्या मयाऽधररसः प्रचुरः प्रियायाः
तृष्णा ततः प्रभृति मे द्विगुणत्वमेति
लावण्यमस्ति बहु तत्र किमत्र चित्रम् ।।६८।।

जब से मैंने काम पिपासा से प्रिय के अधर रस का प्रचुर पान किया है, मेरी तृष्णा दूनी हो गई है । इसमें कुछ वैचित्र्य नहीं, क्योंकि वहाँ लावण्य बहुत हैं ।

इस 'लावण्य' को विहारी ने सलोना बनाकर यों ग्रहण किया है—

त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाइ ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृष्णा बुझाइ ।।४१७

(५) अमरुक और सुन्दर

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेष मुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणामतिव्यतिकर व्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशावत्तन्व्यापि तद्विस्मृतम् ।।२२।।

'उसके घन विलेपन से युग स्तनप्रांत के आलिंगन की मुद्रा से अंकित वक्ष-स्थल मेरे चरणों पर झुकने के प्रसंग के बहाने से क्यों छिपाया जा रहा है ?' (उससे) ऐसा कहे जाने पर 'वह कहाँ हैं ?' ऐसा सहसा कहकर उसका पोंछ डालने के लिए वेग से मेरे द्वारा वह आलिंगित की गई। तन्वी से भी उस सुख के कारण वह बात भुला दी गई।

श्रृंगारीसुन्दर ने इसी भाव को अपने एक छन्द में खण्डिता के उदाहरण में व्यक्त किया है। नायक किसी दूसरी के साथ रति करके आया है और उसकी छाती पर नख-छत है। नायिका कहती है कि आप यह चंद-कला कैसे लाए हैं, मुझे दे दीजिए, मैं खेलूँगी। नायक ऐसा सुनते ही जल्दी से नायिका के गले से लिपट गया—और दोनों एक दूसरे में रस उठे—

नाह की छाती में देखि नखच्छत, नारि नवोढ़ कह्यो पुनि ऐसैं
'सुंदर' बागैं की चोली में भूलि कै, ल्याये हो चंद-कला घरि कैसैं
खेलिबे कों हमको 'यह देहु जू, यौं सुनि कै हरि दौरे हरे सैं।
लाइ लई उरसों हँसि यों, असि दोऊ रहे, कसि राखिये जैसें ॥

—सुन्दर श्रृंगार १२२

(६) अमरु और मण्डन

मण्डन अमरु शतक के इसी श्लोक के भाव को अपने एक सवैये में यों बांधते हैं—

अनबोले से आनि, हँसौंहें से बैठि,
झुके बिनहीं बिन काज समेटत
प्यारी के पाय की धूरि लै लै,
पिय 'मंडन' लाल लिलार लपेटत
चौंप सौं चूमि पवारि के हाथ,
हरैं हरैं ओठ कौ काजर मेटत
छाती कौ दाग छिपावन कौं
बरहू गहि बांह हियौ भरि मेंटत ॥

—कालिदास हजारा

मण्डन के इस नायक ने छाती के दाग को छिपाने की यह आलिंगन-कला निश्चय ही अमरु के नायक से सीखी है। लोग पूर्वजों से सीखते ही हैं।

अमरु और मतिराम

(१)

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
ने जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्ति संसूचनम्
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥२६॥

सखी ने सिखाया नहीं, इस कारण वह पति के पहले अपराध के समय विलासपूर्वक अंग मोड़ना और वक्रोक्ति कहना नहीं जानती है। निर्मल कपोलों के मूल में गिरते हुए, चंचल अलक जिनमें इधर उधर लग गए हैं, ऐसे स्वच्छ आँसुओं से ये नेत्र-कमल वाली वह बाला केवल रोती है।

मतिराम का एक सवैया है--

लाल तुम्हैं कहूँ और तिया की, लख्यो अँगिया में लगावत चोवै।
ता छिन तें 'मतिराम' न खेलति, बूझे सखीनहूँ के दुख गोवै ॥
लिखै करके नख सों पग को नख, सीस नवाय के नीचे ही जोवै।
नारि नबेली न रूसनो जानति, भीतर भौन मसूसनि रोवै ॥

अमरु का श्लोक कवि की उक्ति है, मतिराम का सवैया मुग्धा मानिनी की सखी की नायक से उक्ति है। अमरु में मानिनी के मान का कोई उपचार नहीं है, सवैया में उपचार की दृष्टि से ही सखी ने नायक से निवेदन किया है। अमरु ने नायक के प्रथम अपराध का कोई रूप नहीं निर्धारित किया है; मतिराम ने स्पष्ट कर दिया है कि नायक किसी दूसरी प्रिया की अँगिया में चोव लगा रहा था, नायिका ने उसे ऐसा करते हुए देख लिया। अतः मतिराम का सवैया अधिक प्रभावोत्पादक हो गया है। श्लोक के तत्व को मतिराम ने अपने सवैये के चतुर्थ चरण में समेट लिया है। जहाँ अमरु में 'बाला केवलमेव रोदिति' है; वहाँ यहाँ वह 'भीतर भौन मसूसनि रोवै' है। मसूसनि ने रोदन में भी प्राण डाल दिया है, और 'भीतर मौन' में मुग्धात्व और भी स्पष्ट हो उठा है, लज्जा के मारे वह घर के बाहर नहीं रोती।

(२)

अङ्गानामतितानवं कथमिदं कम्पश्च कस्मात्कुतो
मुग्धे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति
तन्व्या सर्वमिदं स्वभावज मिति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर—
व्यापी वाष्पमरस्तया चलितया निःश्वस्य मुक्तोऽन्यतः ॥४५॥

'हे सुन्दरि ! ए अंग इतने कृश क्यों हो गये ? तू कांपती क्यों है ? क्यों अचानक तेरा मुख पाण्डु-कपोल-युक्त हो गया ?' प्राणेश्वर के यों पूछने पर तन्वी ने 'ये सब स्वाभाविक हैं' यह कहकर पलकों के भीतर रुका हुआ अश्रुजल मुड़कर और लम्बी सांस लेकर अन्य स्थान में डाल दिया ।

मतिराम का एक सवैया है—

'आजु कहा तजि बैठी हो भूषन ? 'ऐसे ही अंग कछू अरसीले' ।
बोलत बोल रुखाई लिए, 'मतिराम' सनेह सने न रसीले ।।
क्यौं न कहौ दुख प्रानप्रिया ? अँसुवान रहे भरि नैन लजीले ।
कौन तिन्हैं दुख है, जिनके तुमसे मन-भावन छैल छबीले' ।।

अमरु के श्लोक में प्रिय ने एक साथ ही तीन प्रश्न कर दिये हैं । नायिका ने सबका एक उत्तर देकर छिपाकर अपने आंसू गिरा दिये हैं । दृश्य मर्मस्पर्शी है । नायिका मध्या धीराधीरा है । मतिराम की भी नायिका मध्या धीराधीरा है । फिर भी वह अमरु की नायिका से कुछ भिन्न है । यह मर्मभेदी व्यंग्य वचन कहने में पटु प्रतीत होती है । यह उससे कुछ बढ़कर है; पर जितनी सहानुभूति अमरु की नायिका के लिए उत्पन्न होती है, उतनी मतिराम की वाचाल नायिका के लिए नहीं ।

अमरु और भूषण

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले जाते वाह्नि प्रिय त्वमिहेष्यसि
इति दिनशत प्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ।।६।।

'हे प्रिय तुम यहाँ दिन के पहले पहर की समाप्ति पर, दिन के मध्य में, अथवा उससे बाद में, या सारे दिन के बीत जाने पर लौटोगे ?' इस प्रकार सौ दिन में पहुँचे जाने योग्य देश को जाने की इच्छा रखने वाले प्रिय के गमन को वह बाला गिरते हुए आँसू के जल से युक्त आलापों से रोक लेती है ।

अमरु के इस श्लोक का ठीक-ठीक अनुवाद तो नहीं, पर शब्दानुवाद या प्रभावानुवाद करने का प्रयास महाकवि भूषण ने किया है—

जान कह्यो पिय आन पुरी कौं,
डरी तिय, प्रान अचानक सोका ।

बान-घटा कबि भूषन यौं,
जिमि मान-छटा क्षखि लच्छिन कोका ।।
नैनन नेह सलज्ज चितौनि,
सरोजमुखी तब भूमि विलोका ।।
पूछें कछू न कही बतिया,
गनि तच्छिन स्याम पयानहिं रोका ।।

—भूषण (प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) छन्द-५६९

दोनों छन्दों की परिस्थिति एवं परिणाम एक ही है ।

अमरु और पद्माकर

(१)

पद्माकर ने इस श्लोक का शब्दानुवाद किया है—

सौ दिन कौ मारग, तहाँ को वेगि माँगी बिदा,
प्यारी 'पदमाकर' प्रभात राति बीते पर ।
सो सुनि पियारी पिय गमन बराइबे कौ,
आँसुन अन्हाइ बैठी आसन सुतीते पर ।।
बालम विदेसै तुम जात हो तो जाउ,
पर साँची कहि जाउ कब ऐहो भौन रीते पर ।
पहर के भीतर, कै दोपहर भीतर ही,
तीसरे पहर, कैधौं साँझही बितीते पर ।।

यहाँ नायिका के मुख से जो विदेश शब्द कहला दिया गया है, वह चौथे चरण के मेल में नहीं है । इस शब्द का प्रयोग कवि को करना चाहिए था, जैसा अमरु ने किया है, न कि स्वयं नायिका को ।

पण्डित बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—

"हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है । बिहारी के दोहों में कहीं-कहीं उनकी छाया दीख पड़ती है, परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद् विनोद में उनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिलकुल अपना लिया है ।"

—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २९८

पद्माकर के सम्बन्ध में कहा गया यह कथन बहुत कुछ भ्रामक है । वस्तुतः पद्माकर ने अमरु के केवल पाँच श्लोकों के भाव अपनाए हैं । उक्त कथन से

बहुत से लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि पद्माकर का जगद् विनोद अमरुक शतक का अनुवाद है, मेरे एक विद्वान् मित्र ने यही बात मुझसे कही भी; और मुझे उनका खण्डन करना पड़ा।

(२)

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन वद्धा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः
भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ।।८।।

सायंकाल क्रोध करके कोमल तथा चंचल बाहुलता रूपी पाश से पति को दृढ़ बाँधकर और सखियों के सामने क्रीड़ाभवन में लाकर रोती हुई दयिता "फिर भी तू ऐसा (करेगा)" यों टूटे-फूटे तथा कोमल वचनों से उसके दुराचार की सूचना दे, अपना दोष छुपाने से मुसकुराते पुण्यवान् कान्त का ही (लीला-कमल से) ताड़न करती है।

पद्माकर ने इस श्लोक का अनुवाद निम्नांकित कवित्त में किया है—

रोस करि पकरि परोस ते लियाई घरै
पी को प्राणप्यारी भुज लतनि भरै-भरै।
कहै 'पदमाकर' ए ऐसौ दोस कीजौ फिरि
सखिन समीप यों सुनावति खरे-खरे।।
प्यौ छल छपावै, बात हँसि बहरावै, तिय
गदगद कंठ दृग आँसुन झरै-झरै।
ऐसी धन धन्य, धनी धन्य है सु ऐसो, जाहि
फूल की छरी सै खरी हनति हरै-हरै।।

अनुवाद में यत्र-तत्र स्वतन्त्रता ली गई है, फिर भी यह बहुत कुछ शब्दशः अनुवाद है।

(३)

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्
एकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुवंधच्छलः
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ।।१६।।

एक आसन पर बैठी हुई प्रियतमाओं को देखकर यत्नपूर्वक पीछे से

आकर, एक के नेत्र हाथ से मूँदकर, धूर्त्त, क्रीड़ा करने के बहाने गरदन को कुछ टेढ़ी करके, रोमांचित हो, प्रीति से प्रफुल्लित चित्त वाली तथा अंतर्गत ह्रास से शोभित कपोलमण्डल वाली दूसरी का चुँबन करता है।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा के वर्णन वाले इस श्लोक का पद्माकर कृत अनुवाद इस कवित्त में देखें—

दोऊ छवि छाजती छवीली मिलि आसन पै,
जिन्हिं बिलोकि रह्यौ जात न जितै-जितै।
कहै 'पद्माकर' पिछौंहें आइ आदर सों,
छलिया छवीलो छैल बासर बितै-बितै।
मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सु दृग-मिचाउनी के ख्यालन हितै-हितै।
नैंसुक नवाइ ग्रीवा धन्य-धन्य दूसरी कौ
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै॥

पद्माकर ने 'आदरात्' का अनुवाद 'आदर सों' किया है, जो ठीक नहीं। यहाँ 'आदर' की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ 'आदर' 'यत्न' के अर्थ में प्रयुक्त है। नायक यत्नपूर्वक छिपकर दबे पाँव आया, जिससे दो में से किसी को उसके आने का पता न लगे और उसे धूर्तता का अवसर मिले। पद्माकर के कवित्त में आए सभी तुक बेतुके हैं, भरती के हैं। इस दृष्टि से अनुवाद कुछ कमजोर पड़ गया है।

इस श्लोक की व्याख्या करते समय डॉ० भोलाशंकर व्यास ने ज्येष्ठा कनिष्ठा में उलट-फेर कर दिया है। दो विवाहिता पत्नियों में पति जिसको अधिक प्यार करता है. (चाहे वह छोटी हो, चाहे बड़ी), हिन्दी वालों ने उसे ज्येष्ठा और जिसे अपेक्षाकृत कम प्यार करता है उसे कनिष्ठा कहा है, संस्कृत में चाहे जो बात हो। इस छन्द में आए 'आदरात्' को व्यास जी ने भी पद्माकर के समान आदर सम्मान समझने की भूल की है।

—संस्कृत कवि दर्शन, पृ० ५५१

(४)

'बाले' 'नाथ' 'विमुञ्च मानिनि रुषं' 'रोषान्मया किं कृतं ?
'खेदोऽस्मासु' 'न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि'
तत्किं रोदिषि गदगदेन वचसा ?' 'कस्माग्रतो रुद्यते ?'
'नन्वेतन्मम' 'का तवास्मि ?' 'दयिता' 'नास्मीत्यतो रुद्यते' ॥५३॥

'बाले !'
'नाथ !'
'हे मानिनी, रोष छोड़ो ।'
'रोष करके मैंने तुम्हारा क्या कर लिया ?'
'हमें खेद पहुँचाया'
'तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया, सब अपराध मेरे ही हैं ।'
'फिर गद्गद वाणी से क्यों रोती है ?'
'किसके आगे रोती हूँ ?'
'हमारे आगे ।'
'मैं तुम्हारी कौन हूँ ?'
'प्यारी ।'
'प्यारी नहीं हूँ, इसी से तो रोती हूँ ।'

इसका अनुवाद यह है—

'ए बलि कहौं हो किन ?' 'का कहत कंत,' 'अरी—
'रोष तज' 'रोष कै कियौ मैं का अचाहे को ?"
कहै 'पदमाकर' 'यहै तौ दुख दूरि करौ'
'दोष न कछू है तुम्हैं नेह निरबाहे को"
'तोपै इत रोवति कहा हौ,' 'कहौ कौन आगे ?'
'मेरेई जू आगे किए आँसुन उमाहे को'"
'को हौं मैं तिहारी ?' 'तू तो मेरी प्रानप्यारी !' 'अजू—
होती जो पियारी, तब रोती कहो काहे को"

यह अनुवाद मूल के इतना सुन्दर नहीं हो सका है ।

(५)

'क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे'
प्राणाधिको बसति यत्र जनः प्रियो मे
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः ।।६९।।

'हे करभ के से उरु वाली, घने निशीथ में कहाँ जाती हो ?'
'जहाँ मेरा प्राणों से भी अधिक प्यारा रहता है ।'
'बाले ! तुझे अकेले क्यों नहीं डर लगता ?'
'सजा सजाया धनुष लिए कामदेव तो मेरा सहायक है ।')

पद्माकर का अनुवाद देखें—

'कौन है तू, कित जात चली, बलि बीती निसा, अधराति प्रमानैं'
'हौं 'पदमाकर' मावती हौं, निज भावते पै अबहीं मोहिं जानैं'
'तौ अलबेली अकेली डरै किन ?' 'क्यों डरौं मेरी सहाय के लानैं
है सखि संग मनोभव सो भट, कान लौं बान सरासन तानैं'

अमरु और भिखारीदास

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि भिखारीदास ने भी अमरु के एकाध श्लोक का भाव ग्रहण किया है। अमरु का श्लोक है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्रं गतं
धृत्याः न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः
यातुं निश्चितवेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३१॥

'प्रियतम के (देशांतर) जाने का निश्चय मन में कर लेने पर सबने उसके साथ प्रस्थान किया, प्रिय के सहचर कंकण चलते बने (चिंता के कारण शरीर कृश हो जाने से हाथों में से खिसक चले), आँसू निरन्तर बहते चले, धैर्य क्षण भर भी न ठहरा, मन आगे जाने को उतारू हुआ; हे जीवन, तुझे भी जाना जरूर है, इसलिए अपने प्रिय मित्रों के समूह को क्यों छोड़ता है ?'

दास जी का यह सवैया देखिए—

बात चली यह है जब तें, तब तें चले काम के तीर हजारन
नींद औ भूख चली तन तें, अँसुवा चले नैननि तें सजि धारन
'दास' चली कर तें वलया, रसना चली लंक तें लागी अबार न
प्रान के नाथ चले अनतैं, तन तें नहिं प्रान चले केहि कारन

यह साम्य आकस्मिक नहीं है। दास जी के मन में अमरु का श्लोक गूंज रहा था, वही इस छन्द में किंचित परिवर्तित रूप में अनूदित हो उठा है। इसे अनुवाद की ही संज्ञा दी जायगी। श्लोक में बलया, अश्रु, धृत्या, चित्त, प्रियतम आदि सभी के चलने के लिए विभिन्न पदों का प्रयोग हुआ है, दास जी ने बात, काम के तीर, नींद और भूख, आँसू, बलया, रसना प्राननाथ और प्रान सबके लिए एक क्रिया 'चलना' का प्रयोग करके बड़ा चमत्कार कर दिया है। दोनों छन्दों का भाव एक है, पर दास में चमत्कार का आधिक्य है। यदि चमत्कार का यह आधिक्य न होता तो दास पर बड़ी आसानी से कोरा

अनुवाद कर देने का आरोप अथवा भावापहरण का कलंक लगा दिया जा सकता था ।

अमरु और मुरार

पीतस्तुषारकिरणो मधुनैव सार्द्धम्
अन्तः प्रविश्य चषके प्रतिविम्बवर्ती
मानान्धकारमपि मानवतीजनस्य
नूनं विभेद यदसौ प्रससाद सद्यः ।।४६।।

'प्याले में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा मद्य के साथ ही पी लिया और उसने भीतर जाकर मानवती स्त्रियों के मानांधकार का भी नाश कर दिया, क्योंकि उसी क्षण से मातिनियाँ मान रहित हो गईं ।'

किसी मुरार नामक कवि ने इस श्लोक के भाव को लेकर यह छन्द रचा है—

पिय सौंह कही, पुनि बाँह गही, कटु बानि सही, धरि धीर घनेरौ
कर जोरि खरौ रहि, पाय परौ, स्वरभंग गरौ किय भाख्यौ, 'हौं चेरौ'
सब ही जु 'मुरार' उपायन के सह व्यर्थ भयौ समुझायबौ मेरौ
मद में प्रतिबिंबित चंद पियौ, तिहि दूरि किये मन मान-अँधेरौ

श्लोक कवि की उक्ति है, सवैया मानिनी नायिका की सखी के प्रति उक्ति है । सखी की उक्ति होने से इसमें सामीप्य भाव अधिक आ गया है । मान-मोचन के सभी उपाय प्रिय ने किए, सौंहें खाईं, बाँह पकड़ी, धैर्य धारण कर झिड़कियाँ सहीं, हाथ जोड़कर खड़ा रहा, पैरों पड़ा, गला भरकर कहा कि मैं तुम्हारा दास हूँ । सखी ने भी समझाया । पर सभी व्यर्थ । सवैये के प्रथम तीन चरण पूर्णतया नवीन हैं । मुरार ने चौथे चरण में श्लोक का सारा आशयासव खींच लिया है । निश्चय ही मुरार का सवैया अमरु के श्लोक का ऋणी है । उसने ऋण लिया है, पर ऋण लेकर उसने उसका सदुपयोग ही किया है ।

अमरु और एक अज्ञात कवि

श्लोक १३ में सुग्गो ने रात में प्रिया प्रीतम का वाग्विलास सुना है । प्रभात होने पर वह उनकी बातें गुरुजनों के समक्ष दुहराना चाहता है, नायिका अपने कानों के पद्मराग को शुक की चोंच में दे देती है, वह उसे दाड़िम का फल समझ चुप हो जाता है । इसी भाव को किसी कवि ने यों व्यक्त किया है—

दंपति राति करी बतियाँ मिलि, निर्जन भौन, सुवा सुनि लीनी
आगे गुरून के प्रात लग्यो कहने, घटना सबसों रँग-भीनी
जानि बहू कनफूल सों तोड़िकैं, सौन मनी की कनी रख दीनी
चोंच पै दाड़िम के छल सों, अरु रोकि दई सुक बानी नवीनी

श्लोक १५ में नायिका ने मान किया है। पर वह मान की सारी क्रियाएँ नायक के स्वागत के उपचार रूप में करती है। इस श्लोक का अनुवाद इस छन्द में देखें—

आसन तें उठि दूरि सों कामिनी, नेकु न आपने संग विठायौ।
लान की पान बना बतियाँ, छल सों न अलिंगन गाढ़ करायौ॥
पास बताइ कुटुंब के लोगन, कान के ऊपर हाथ जमायौ।
यों उपचार सों मानिनि, सन्मुख कंत कृतारथ कोप बनायौ॥

श्लोक ४० में आगतपतिका नायिका ने हर्षातिरेक में अपने अंगों के ही द्वारा नायक के स्वागत की सारी विधियाँ पूरी कर दी हैं। इसका अनुवाद निम्नांकित सवैये में देखें—

इंदिवरान को वर्जि सुलोचनि, दीठि सों वंदनवार बनाई।
कुंद चमेलिन मेलि कछू, मुसक्यान सों दीन प्रसून बिछाई।
स्वेद चुचात पयोधर सों, दिय अर्घ, न अंभ सु कुंभ में लाई।
आवत पीय के अंगनि सों निज, मंगल रीति सबै निबटाई।

श्लोक ७६ में मानिनी नायिका से सखी ने उसके मान की अनुपयुक्तता की चर्चा करते हुए कहा है तूने स्वयं दहकते अंगारे अपने हाथ से खींचे हैं, अतः अब अरण्यरोदन से क्या लाभ ?—इसका भावानुवाद निम्नांकित दोहे में यों हुआ है—

मेरी सिख सीखे, न सखि, मोसों रहत रिसाय
सोयो चाहति नींद भरि, सेज अँगार बिछाय

श्लोक ७७ में प्रसिद्ध ''शून्यं वासगृहं विलोक्य'' है। इसका अनुवाद निम्नांकित सवैये में हुआ है—

लखि निर्जन भौन जरा उठि सैन सों, चूमे सनैं अधरैं सुखदाई।
छल मीलित नैन सुपी मुख कौं, अवलोकत ही पुलकावलि पाई।
जुत लाज भई झटि नम्रमुखी, छवि वा कवि सों बरनी कब जाई।
बस आनँद के, हँसि साहस सौं, ससि की सी कली चिर कंठ लगाई॥

८१वें श्लोक में नायिका मान करने में अपने को असमर्थ पाती है । इसका अनुवाद निम्नांकित कवित्त में हुआ है—

जाके मुख सामुहे भयोई जो चहत मुख,
लीन्हों सो नवाइ डीठ पगन अबांगी री ।
बैन सुनबे को अति व्याकुल हुते जो कान,
तेऊ मूंदि राखे मजा मनहूँ न मागी री ।
झारि डार्‌यो पुलक, पसेदहु निवारि डार्‌यो,
रोकि रसनाहू त्यौं भरी न कछू हांगी री ।
एते पै रह्यौ न मान, मोहन भट् पै लटू,
टूक टूक ह्वै कै ज्यों छटूक भई आंगी री ।

सभी छन्द ऋषीश्वरनाथ भट्ट वाले अमरु शतक में श्लोकों के हिन्दी गद्यानुवाद के अनंतर दिए गए हैं । मेरा ऐसा ख्याल है कि ये सभी किसी एक ही कवि के किए हुए अनुवाद हैं और सम्भवतः वह कवि स्वयं श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट हैं । अस्तु, जो हो ।

डॉ० किशोरीलाल गुप्त
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
शिवली कालेज, आजमगढ़

२११, बाजबहादुर, आजमगढ़
१५ जनवरी ६० (मकरसंक्रांति २०१६)

पुनश्च

आधुनिक युग में अमरुक शतक के तीन हिन्दी अनुवाद

आधुनिक युग में अमरुक शतक के तीन हिन्दी अनुवाद हुए हैं, जो मेरे सामने हैं । इनमें से अपना यह अनुवाद प्रस्तुत करते समय एक ही प्रस्तुत था । दो मेरे अनुवाद के बाद प्रस्तुत हुए हैं ।

१. ऋषीश्वरनाथ भट्ट जी का अनुवाद १९१४ ई०

यह अनुवाद १९१४ ई० (सं० १९७१ वि०) में गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास के लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस से छपा था । मैंने इसी ग्रन्थ को आधार मानकर प्रस्तुत अनुवाद किया है । भट्ट जी का अनुवाद गद्य में है और साहित्यिक टीका–टिप्पणियों से युक्त है साथ ही यत्र तत्र 'तुलनार्थ' शीर्षक के अंतर्गत समान भाव वाले रीतिकालीन कवित्त, सवैये भी अवतरित हैं । उदाहरण के लिए श्लोक २६ पर यह टीका टिप्पणी है—

"सखी की उक्ति सखी से। ईर्ष्या या मानात्मक विप्रलंभ शृंगार। अश्रु सात्विक। मुग्धा खाण्डिता नायिका। जाति अलंकार। शार्दूल विक्रीड़ित छन्द।" तुलनार्थ मतिराम का "लाल तुम्हें कहूँ ओर तिया की" से प्रारंभ होने वाला सवैया, अवतरित है। इसमें १०० श्लोकों का अनुवाद है। परिशिष्ट में १३ श्लोक हैं — अपने मूल रूप में।

भट्ट जी के पास अमरुक शतक की पाँच पुस्तकें थीं। इनमें से चार में एक सौ श्लोक थे, जो एक ही थे और जिनका क्रम भी एक था। भट्ट जी ने इन्हीं श्लोकों एवं इसी क्रम को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है। उन्होंने परिशिष्ट में १३ श्लोक और संकलित कर लिए हैं। इनका गद्यानुवाद आदि नहीं दिया है। केवल मूल श्लोक दिए गए हैं। ये श्लोक उन्हें रसिकसंजीवनी और शृंगार दीपिका दोनों टीकाओं में मिले थे।

२. कमलेश दत्त त्रिपाठी का पद्यानुवाद १९६१ ई०

दूसरा आधुनिक अनुवाद पं० कमलेश दत्त त्रिपाठी संस्कृत विभाग, अग्रवाल डिग्री कालेज प्रयाग का है। इसे मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद ने प्रकाशित किया था। इसमें प्रकाशन तिथि नहीं दी गई है। पर यह १९६१ ई० या १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अनुवादक ने अनुवाद के सम्बन्ध में लिखते हुए ९-८-६१ तिथि दी है। मैंने इसके चार श्लोकों का व्रजी में पद्यानुवाद २६-१-६६ (वसंत पंचमी २०२२ दि०) को किया था।

'यह संस्करण' के अंतर्गत मित्र प्रकाशन की ओर से श्रीकृष्ण दास ने लिखा है—

'आश्चर्य की बात है कि अब तक हिन्दी में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का एक भी संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में हमारा यह प्रयास सर्वथा नवीन है।'

पर यह दास जी का भ्रम हो है। यह अमरुक शतक का द्वितीय आधुनिक संस्करण है। पहला संस्करण तो प्रायः ४८ वर्ष पहले १९१४ ई० में ही बम्बई से हो गया था।'

ग्रन्थारम्भ में ४८ (९-५६) पृष्ठों की जानकारी से परिपूर्ण परम प्रौढ़ भूमिका है। फिर १६३ पृष्ठों में मूल और खड़ीबोली के मुक्त छन्दों में अत्यन्त प्रौढ़ और कुशल पद्यानुवाद है। हर एक पृष्ठ पर एक श्लोक और उसका

पद्यानुवाद है। हर पृष्ठ पर पृष्ठभूमि में चित्र बने हुए हैं अतनु और सुतनु के। छपाई अत्यन्त कलापूर्ण है। बीच-बीच में नौ-दस चित्र भी अलग से हैं।

पृष्ठ २२५-३०० पर हर श्लोक पर अलग-अलग टिप्पणियाँ हैं। तदनन्तर निम्नांकित परिशिष्ट हैं—

१. (क) प्रतीक अनुक्रमणिका (पूर्व टीकाकारों की)
(ख) सुशील कुमार दे की दृष्टि में संशयित श्लोक (२५)
(ग) अतिरिक्त श्लोक—२७

२. प्रस्तुत संस्करण के १६३ श्लोकों का प्रतीकानुक्रम

३. वृत्त (छन्दोनिरूपण)

४. सहायक एवं सन्दर्भ ग्रन्थ ५०

बम्बई एवं प्रयाग संस्करणों के श्लोकों का तुलनात्मक रूप यों हैं—

१-४ । १—४	५२ । १२६	८२ । १४
५-८ । ६-९	५३ । ५७	८३ । २२
९ । १२		८४ । ३२
१० । १०	५४ । ११९	८५ । ५५
११ । १३	५५ । १२९	८६ । १२८
१२-१८ । १५-२१	५६-५७ । ५८-५९	८७ । ८१
१९-२४ । २३-२८	५९-६० । १२३-१२५	८८ । ६०
२५ । १३२	६१-६२ । ६१-६२	८९-९० । ८६-८७
२६-२८ । २९-३१	६३ । ६४	९१-९२ । ९६-९७
	६४-६७ । ६७-७०	९३ । ९९
२९-३७ । ३३-४१	६२ । १३०	९४ । १३३
३८-४६ । ४३-५१	६९-७५ । ७१-७७	९५ । १३७
४७ । ५३	७६ । ८०	९६ । ५६
४८ । १३६	७७ । ८२	९७ । ५५
४९ । १२०	७८-७९ । ८४-८५	९८ । १३४
५० । १०३	८० । ५	९९ । १३५
५१ । १२७	८१ । ११	१०० । १३८

अमरुक शतक प्रयाग संस्करण के निम्नांकित ६३ श्लोक बम्बई संस्करण से अधिक है—

४२, ५२, ६३, ६५, ६६, ७८, ७९, ८३, ८८-९५, ९८, १००-१०२, १०४, ११५, ११७-११८, १२१-२२, १३१, १३६, १३९-१६३

मैंने २६-१-६६ को इसके चार श्लोकों के व्रजी पद्य में ये अनुवाद कर दिए थे।

(१५३)

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारामणीन्दुषु
विराने मृगशावाक्ष्यास्तमोभूतामिदं जगत् —१५६

त्रिपाठी जी का इसका मुक्त छन्द में यह अनुवाद है—

रहे भले ही दीप,
भले ही रहे अग्नि भी,
रहें भले ही तारे मणियाँ और चंद्रमा
किंतु नहीं यदि मृगछौने से नयनों वाली
यह संसार अँधेरा ही है।

मेरा व्रजभाषा सवैये में यह अनुवाद है—

चाहे प्रदीप हजार जरें, बरे आगि भलेई अपार उदार
चाहे अकास में ज्योति भरें नखतावलि, इंदु करे उजियार
चाहे प्रकास करे मनि-जाल, (रु औषधि जोति हरे तम-भार)
मृगसावकनैनी विना हमकों, सिगरो जग लागत है अँधियार

(१५४)

सुरत विरतो व्रीडावेशश्रमश्लथहस्तया
रहसि गलितं तन्व्या प्राप्तुं न पारितमंशुकम्।
रतिरसजडैरङ्गै रङ्गं पिधातुमशक्तया
प्रियतमतनौ सर्वांगीणं प्रविष्टमधृष्टया॥

त्रिपाठी जी का अनुवाद

लाज थकन-आवेश-शिथिल-कर
तन्वी पा न सकी अंशुक को रति परिणति में
जो सूने में वहीं गिरा था,
रति-रस-जड अपने अंगों से अंग छिपा सकने में अक्षम
अप्रगल्भ वह
प्रियतम के तन में ही अपने
सारे अंग छिपाती जाती

मेरा ब्रजभाषा में अनुवाद—

भई रति-रस-बस, जान्यो न प्रवीन कस—
तन कौ बसन खसि, सूने गिरि रह्यौ है।
रति अंत, लाज सों औ स्रम सों सिथिल भए,
हाथन सौं खस्यो पट गयो नहिं गह्यौ है।
रति-रस-जड़ बने अंगनि सों निज अंग—
सकी न दुराइ, सिरनाइ लाज लह्यौ है।
प्रियतम तनु माँहि, अतनु- मतनु लहि,
निज तनु सुतनु समेटि भेंटि दयो है ॥

(१५७)

मानव्याधिनिपीडिताहमधुना शक्नोपि तस्यान्तिकं
तो गन्तुं न सखीजनोऽस्ति चतुरो यो मां बलान्नेष्यति ।
मानी सोऽपि जनो न लाघवभयादम्येति मात: स्वयं
कालो याति चलं च जीवितमिति क्षुण्णं मनश्चिन्तया

त्रिपाठी जी का अनुवाद—

मान- व्याधि से पीड़ित संप्रति
उसके पास नहीं जा सकती,
और न तो हैं चतुर सखीजन
जो ले जायेंगी बलपूर्वक ।
वह मानी भी हेठी से डर
नहीं स्वयं ही पास आ रहा,
ओ मां ! समय व्रीतता जाए,
चल जीवन भी
इस चिंता से चूर हो रहा है मन मेरा ।

मेरा अनुवाद :

मान की व्याधि सों पीड़ित ह्वै, नहिं जाइ सकौं पिय पास हहा रे।
औ न सखीजन हैं चतुरा, मोहिं जो बरियाई लै जाहिं तहाँ रे ॥
मानी पिया निज हेठी की लाज सौं, आवत ना ढिग आपु हमारे।
काल के साथ चलै चल जीवन, ह्वै चकचूर सचित महा रे ॥

(१६१)

ललितमुरसा तरन्ती
तरलतरङ्गौघचालितनितंबा
विपरीतरतासक्तेव
दृश्यते सरसि सा सख्या

कमलेश जी का अनुवाद :

तैर रही वह ललित रम्यतर
उर के बल से
तरल-तरंग-बाढ़ से उसके
(गुरु) —नितंब कंपित हो उठते,
उसे देखती सखी सरोवर में, मानो वह
हो विपरीत सुरत में रत ही ।

मेरा अनुवाद :

(पैर कँपाइ, उरून दबाइ, सु लंक लचाइ लचाइ के आला)
तैरति है उर के बल ताल में, (हैं बगरे बर बार विसाला)
पाइ तरंगनि घातनि रंगिनि के चल पीन नितंब निराला
हेरि सखी सुख पावति है, विपरीत में ज्यों रत है रति–बाला

ये चारों श्लोक, कमलेश जी के इनके खड़ीबोली में मुक्त छन्द में अनुवाद और स्व-कृत ब्रजभाषा के कवित्त सवैओं में अनुवाद यहाँ दो दृष्टियों से दिए गए हैं । पहली दृष्टि यह है कि इन अनुवादों के आमने-सामने रहने से यह स्पष्ट हो जाय कि यद्यपि खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में एक ही भाव अनुप्राणित है, पर दोनों भाषाओं की प्रकृति अलग-अलग है, अतः इन दो भाषाओं में एक ही भाव के होने पर भी दोनों के आस्वाद में अन्तर है, अलंकरण में अन्तर है, प्रभाव में अन्तर है । दूसरी दृष्टि स्वार्थ की है । इसी बहाने मेरे ये चारों अनूदित छन्द भी संकलित, संगुंफित, सुरक्षित हो जाते हैं ।

३. डॉ० विद्यानिवास संस्करण

अमरुक शतक का तीसरा संस्करण डॉ० विद्यानिवास मिश्र का है जो १९६५ ई० में राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८ फैज बाजार, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित है । इसके आरम्भ में ३७ पृष्ठों की भूमिका है । मूल ग्रन्थ में १०२ श्लोकों का गद्यानुवाद है और प्रत्येक श्लोक के गद्यानुवाद के अनन्तर साहित्यिक टीका टिप्पणियाँ हैं । इन १०२ श्लोकों की टीका अर्जुन वर्मदेव ने अपनी रसिक संजीवनी टीका में की है ।

डॉ० मिश्र ने कमलेश दत्त मिश्र के संस्करण में संकलित श्लोक १०३-१० भी दिए हैं । इनमें से १०३, १०७, १०८ को अमरुक का न मानकर केवल मूल दिया गया है, टीका नहीं । शेष १०४, १०५, १०६, १०९, ११० को अमरुक का मानकर टीका दे दी गई है और टिप्पणियाँ भी ।

ग्रंथांत (पृ० १०२– १०१) में शेष १११-१६३ श्लोकों को भी अस्वीकृत कर दिया गया है और इन्हें मूलरूप में भी नहीं दिया गया है ।

कमलेश दत्त त्रिपाठी और विद्यानिवास जी मिश्र के श्लोकों का क्रम एक ही है ।

जून १९९२

□□

अमरुक-शतक

१/१ वसंततिलका

ज्याकृष्टिबद्धखटकामुखपाणिपृष्ठ-
प्रेङ्खन्नखांशुचयसंवलितोऽम्बिकायाः ।
त्वां पातु मंजरितपल्लवकर्णपूर-
लोभभ्रमद्भ्रमरविभ्रमभृत्कटाक्षः ।।

प्रत्यंचा के खींचने में लगे हुये खटकामुख (की मुद्रा से युक्त) हाथ के पृष्ठ भाग पर झूलती हुई नख की किरणों के समूह से संवलित तथा मंजरित पल्लव के कर्णफूल (की सुगंध) के लोभ से घूमते हुये भौंरे (से उत्पन्न) विभ्रम को धारण करने वाला अम्बिका का कटाक्ष तुम्हारी रक्षा करे।

कानन लौं धनु सिंजिनि तानत
हाथन पै नख-अंसु परैं।
फूलन के कनफूल से लागत
बिंब सरोरुह रूप धरैं।
तापर स्याम कटाछ परैं
जनु लोभि के भौंर की भीर अरैं।
मंजु कटाछ सोई जगदंब के
या जग में तव पीर हरैं।।

२/२ स्रग्धरा

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिःसाश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।।

आँसू से भरे हुए कमल के से नेत्रों वाली त्रिपुर की युवतियों से हाथ लगने पर झटक दिया गया, बलपूर्वक मारने पर भी साड़ी के अंचल को पकड़ता हुआ, बालों को पकड़ते समय दूर हटा दिया गया हुआ, चरणों पर गिरते समय आकुलता के कारण न देखा गया, आलिंगन के लिए बढ़ते समय झटका देकर हटाया हुआ, सद्यः अपराधी कामी के सदृश शंकर की शराग्नि तुम्हारे पाप को भस्म कर दे ।

कर में लगे ते करैं झटकि तुरंत दूरि,
सारी में लगे तैं दूरि करे हैं प्रहार सों ।
लट लगे मींजि देत, पग लगे खींचि लेत,
अंगन लगे तें झारि देत फटकार सों ।।
कंज नैन आँसु भरे, त्रिपुर-वधूटी जेहि,
दोषी पीउ सम दूरि राखैं दुतकार सों ।
विकट अपार अघ-भार को पहार तव,
शंकर को सर-अग्नि करै पल छार सों ।।

१६-६-५६

३/३ शार्दूलविक्रीडित

आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्चलत्कुण्डलं
किंचिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदांभसः शीकरैः
तन्व्या यत्सुरतान्ततान्तनयनं वक्त्रं रतिव्यत्यये
तत्वां पातु चिराय किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः

विपरीत रति के समय, अस्त-व्यस्त तथा चंचल अलकावली को धारण करता हुआ, हिलते-डुलते कुण्डलों से युक्त, कुछ-कुछ पुछे हुये तिलक से युक्त, छोटे-छोटे स्वेदांबुशीकरों से युक्त, तन्वी का सुरत के अवसान के समय शिथिल पड़ गये नेत्रों वाला जो मुख है, वह तुम्हारी चिरकाल तक रक्षा करे, हरि हर ब्रह्मा आदि देवताओं से क्या प्रयोजन ।

सोभित चंचल कुंडल सों,
जिहि पै लसै केस घनो सटकारो ।
स्वेद के बुंदनि सों जो भरो,
स्रम भाल पुँछी तिलकावलि धारो ।।

जो मुख है विपरीत समै
सुरतांत में आरस लोचन वारो।
का विधना हरि औ हर, सोई–
रहै चिरकाल लौं तो रखवारो ॥

१६-६-५६

४/४ हरिणी

अलसवलितैः प्रेमार्द्राद्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः
हृदयनिहितं भावाकूत वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥

हे मुग्धे, ऐसा कौन पुण्यवान है, जो आज तुम्हारे द्वारा आलस्य से युक्त, प्रेम से भींगे, बार-बार आधे मुँदे जाते हुए, क्षण भर के लिए सम्मुख हो गए हुए, लज्जा के कारण चंचल निर्निमेष, हृदय में निहित भाव के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए से नेत्रों से देखा जायगा ?

आरसवंत, भरे रस रंग सौं,
अर्द्ध निमीलित, बारहिँबार।
लाज सों चंचल, सौंहैं रहैं छपि,
हैं अनिमेष निहारनहार ॥

गूढ़ भरे अनुराग के भावन
कों प्रगटावन में जु उदार।
को सुकृती अवलोकिहौ जाहि यौं,
ऐसे विलोचन सों सुकुमारि ॥

१०-६-५६

५/६ शार्दूलविक्रीडित

दत्तोऽस्याः प्रणयस्त्वयैव भवता चेयं चिरं लालिता
दैवादद्य किल त्वमेव कृतवानस्या नवं विप्रियम्
मन्युर्दुःसह एव यात्युपशमं नो सान्त्ववादैः स्फुठं
हे निस्त्रिंश विमुक्तकण्ठकरुणं तावत्सखी रोदितु

हे निर्दय, तुम्हींसे इसे प्रेम दिया गया और तुम्हींसे यह बहुत दिनों तक दुलारी गई। दैववश आज तुम्हींने इसके प्रति नया अपराध किया है। दुःसह शोक सान्त्वना के शब्दों से शान्त नहीं होगा। (अतः) मेरी सखी विमुक्त कण्ठ होकर करुण स्वर से तब तक रोवे।

प्यार दयो अपनो तुमने,
चिरकाल लौं लाड़ लड़ायो लला।
भाग्य की बात लखौ अपराध कै
नूतन, है अब याहि छला॥
दुस्सह सोक या बोध की बातन
सांत कहूँ कहौ ह्वै है भला?
कै करुना खुलि रोवन दीजिए
या दुखिया सरला अबला।

१७-६-५६

६/७ शिखरिणी

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै—
स्तवावस्थाचेयं विसृज कठिने मानमधुना।

बाहर प्राण प्यारा नतमुख भूमि खुरचता हुआ बैठा है। सखियाँ निराहार हैं तथा निरन्तर रोने के कारण फूली हुई आँखों वाली हो गई हैं। पींजड़े के सुग्गे के द्वारा सभी हँसना पढ़ना छोड़ दिया गया है और तुम्हारी (स्वयं) यह दशा है। तो हे कठिने, इस समय मान छोड़ दे।

देखत नीचे कौं, लेखत भूमिहिं,
बाहर बैठि के प्रानपियारो।
भूखी सखीजन, रोवत रोवत
लोचन फूलि भयो रतनारो॥
भूलि गयो पढ़िबो हँसिबो सब,
पींजरे में सुक दीन विचारो।
और दसा यह तेरी स्वयं,
कठिने, हठ छाड़ि, करै न बिगारौ॥

१०-६-५६

७/८ शार्दूलविक्रीडित

नार्यस्तन्वि हठाद्धरन्ति रमणं तिष्ठन्ति नो वारिता—
स्तत्किं ताम्यसि किं च रोदिषि, मुधा तासां प्रियं मा कृथाः ।।
कान्तः केलिरुचिर्युवा सहृदयस्तादृक्पतिः कातरे
किं नो वर्करकर्करैः प्रियशतैराक्रम्य विक्रीयते ।।

हे तन्वि स्त्रियां बलपूर्वक तुम्हारे रमण को हर लेती हैं, बरजने पर भी नहीं रुकतीं, तो तुम क्यों दुःखी होती हो और क्यों रोती हो, तुम व्यर्थ ही उनकी मनचाही न करो। हे कातरे, क्यों नहीं उस प्रकार का कमनीय, क्रीड़ाशील, युवा तथा सहृदय पति तरूण-पशु के बाँधने की रस्सी के सदृश सैकड़ों प्रिय-वचनरूपी बन्धनों से घेर करके मोल ले लिया जाता है ?

रोके न रुकति पर-रमनी, रमन तेरौ
रसे रसे रस-रसरी सौं गहि खैंचि लेत ।
काहे दुख करति हौ, कातर ह्वै ररति हौ,
सौति मनचाही मति करौ व्यर्थ, चितै चेत ।
पीतम तिहारो कमनीय, कांत, केलि-प्रिय,
सरस हृदय, युवा, सुषमा सों ताहि हेत ।
मीठी-मीठी सत बतियानि-पगहानि घेरि,
कस नाहि पीतमै पियारै सखि मोलि लेत ।

१७-६-५६

८/६ शार्दूलविक्रीडित

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्धा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः
भूयोऽप्येवमिति स्खलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन

कोप के कारण कोमल तथा चंचल बाहुलता के पाश से दृढ़ता के साथ बाँधकर सायंकाल सखियों के सामने ही क्रीड़ागृह में ले जाया गया, 'फिर ऐसा करोगे ?' इस प्रकार लड़खड़ाती हुई कोमल वाणी से अपराध को सूचित

करके रोती हुई (नायिका) के द्वारा अपराध छिपाने में लगा हुआ सौभाग्यशाली प्रिय मारा जाता है ।

कोप करि कोमल औ लोल बाहु-लतन के—
पासन सों कसि करि, पीउ कों जकरि कै ।
देखत सखीजन के, केलि के निकेतन मैं,
साँझ समै होत ही गई लै तिया धरि के ।।

पीउहिं जताइ दोष, "फेरि ऐसो करिहौ का ?"
बोली तुतराय मृदु, भरि के, भभरि कै ।
दोषहिं छिपावन को हँसे जात, धन्य पिया,
रोइ-रोइ तिया हनै फूल हाथ भरि कै ।।

१७-६-५६

६/१३ हरिणी

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले जाते वाह्निप्रिय स्वमिहेष्यसि
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः

"हे प्रिय, तुम यहाँ दिन के पहले प्रहर की समाप्ति पर, किंवा मध्य में, अथवा उससे भी बाद में या सारे दिन बीत जाने पर लौटोगे ?" इस प्रकार सौ दिन में पहुँचे जाने योग्य देश को जाने की इच्छा रखने वाले प्रिय के गमन को वह बाला गिरते हुए आँसू के जल से मुक्त आलापों से रोक लेती है ।

सौ दिन दूरि बिदेस अहै,
प्रिय जान चहै, तिय चाहै बराइबो ।
"चारि धरी महँ, दोपहरी महँ,
सेपहरी या कि सांझ लौं आइबो ?"
पूछ्यौ भरे गर सों भभराय कें,
पीतम देख्यौ प्रिया थहराइबो ।

आँसुन के जल सों परिपूरित,
बोलन रोक्यो बिदेस को जाइबो।

१७-६-५६

१०/१० शार्दूलविक्रीडित

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्यां नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि
लज्जामन्थरतारकेण निपतद्धाराश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः

"हे सुंदरि, चले गए हुए लोग क्या फिर नहीं मिलते ? (अतः) मेरे लिए तुमसे चिंता नहीं की जानी चाहिए। अत्यन्त दुर्बल हो गई हो।" इस प्रकार आँसू भरकर मेरे कहने पर लज्जा से शिथिल पुतली वाले, धाराओं में गिरने वाले आँसू से युक्त दृष्टि से मुझे देखकर, उससे हँसी के द्वारा अपने भावी-मरण के निमित्त उत्साह सूचित किया गया।

"जात जो बिदेस सो का मिलत कबौं ना फेरि ?
सुंदरी, न सोच करौ, मेरे लियै मन मैं।
तुम खरी दूबरी हौ, कहतहि आँखें भरीं,
पुलकित रोम भए, कंप भयौ तन मैं॥
लाज सों गई ह्वै थिर पूतरी प्रिया की दोऊ,
बहि चले पूर, आँसु भरे हैं दृगन में।
बोली नही बाला कछू, उत्तर में, लखि मोहिं,
उतसाह हास सों जतायो स्व-मरन में।

२२-६-५६

११/१३ शार्दूलविक्रीडित

धीरं वारिधरस्य वारि किरतः श्रुत्वा निशीथे ध्वनिं
दीर्घोच्छ्वासमुदश्रुणा विरहिणीं बालां चिरं ध्यायता
अध्वन्येन विमुक्तकण्ठमखिलां रात्रिं तथाक्रंदितं
ग्रामीणैर्व्रजतो जनस्य वसतिर्ग्रामे निषिद्धा यथा

आधी रात के समय पानी बरसाते हुए बादल की घोर ध्वनि को सुन कर, लम्बी साँस लेकर आँसू से युक्त होकर, वियोगिनी बाला का देर तक ध्यान करते हुए, पथिक के द्वारा विमुक्त कण्ठ होकर, सारी रात इस प्रकार रोया गया कि जिससे गाँव के रहने वाले लोगों से रास्ता चलने वाले व्यक्ति का गाँव में टिकना ही रोक दिया गया।

अधिक राति गए, झरी लाय कैं
घोर घनो बदरा घहरायो।
सो सुनि सोचि वियोगिनि बालहिं,
आँखिन में अँसुवा भरि लायो ॥
आहि कराहि पथी भरे कंठन
कैसेहुँ रोवत रैनि बितायो।
ता दिन तें उहि गाँउ के लोगन
काहू पथी नहिं फेरि टिकायो ॥

२२-६-५६

१२/१५ हरिणी

कथमपि सखिक्रीडाकोपाद्व्रजेति मयोदिते
कठिनहृदयस्त्यक्त्वा शय्यां बलाद्गत एव सः
इति सरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे जने
पुनरपि हतव्रीडं चेतः प्रयाति करोमि किं

हे सखि, क्रीड़ा-कोप से किसी प्रकार (कठिनाई से) 'चले जाओ' इस प्रकार मुझसे कहे जाने पर, वह कठोर-हृदय शय्या छोड़कर हठपूर्वक चला ही गया। इस प्रकार आकस्मिक वेग के साथ नष्ट हो गए हुए प्रेम वाले प्यार रहित व्यक्ति के प्रति फिर भी मेरा लज्जा रहित मन चला जाता है, मैं क्या करूँ ?

झूठहि मान मैं रूसि कह्यो,
"चलौ दूरि हटौ, न करौ लँगराई"।
सो सुनि दूरि कठोर गयो
चलि, छोड़ि सुकोमल सेज सुहाई ॥

या विधि प्रेम को त्यागि ततच्छन,
जाने करी छन मैं निठुराई।
री, मन मेरो निलज्ज महा,
करौं काह, है जात तऊ उतै धाई ।।

१२-६-५६

१३/१६ शार्दूलविक्रीडित

दम्पत्योर्निशि जल्पतोगृहशुकेनाकर्णितं यद्वच
स्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतस्तस्योपहारं वधूः
कर्णालंबित पद्मरागशकलं विन्यस्य चंचूपुटे
व्रीडार्त्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्

रात के समय बात करते हुए दम्पति का जो वचन घर के सुग्गे के द्वारा सुना गया, उसको प्रातःकाल गुरुजन के निकट कहते हुए उस (शुक) के प्रति लज्जा से व्याकुल हो गई हुई वधू कान में लटकते हुए पद्मराग के टुकड़े को चंचुपुट में दाड़िम के फल के बहाने से उपहार रखकर वाणी-बंधन कर देती है।

रंग-बिहार समै सुख-भौन मैं
बातैं करी कल जो सुखदाई।
होत प्रभात ही, सो कहिबे
गुरु लोगन सों सुक चोंच उठाई ।।
सो सुनतै बहू लाज सों लाल ह्वै
कान के लाल उतारिकै धाई।
दै सुक चोंच मैं दाड़िम के मिस,
बाँध्यो गिरा, करि दाइ-उपाई ।।

१२-६-५६

१४/१७ शार्दूलविक्रीडित

अज्ञानेन पराङ्मुखीं परिभवादाश्लिष्य मां दुःखितां
किं लब्धं चटुल त्वयेह नयता सौभाग्यमेतां दशाम्

पश्यैतद्दयितारतिव्यकरोन्मृष्टाङ्गरागारुणं
वक्षस्ते मलतैलपङ्कशबलैर्वेणीपदैरङ्कितम्

अपराध के कारण दुःख में भरी हुई और मुँह मोड़कर खड़ी हुई मुझको बिना मेरे जाने हुए, आलिंगन करके, हे धूर्त, इस प्रसंग में अपने सौन्दर्य को इस दशा को पहुँचाने वाले तुमसे क्या पाया गया ? देखो प्रिया की रति के प्रसंग में उमड़े हुए अंगराग से लाल तुम्हारी यह छाती (मेरे) गन्दे तेल की कीचट से रंग-विरंगे हो गए वेणी के चिह्नों से अंकित है ।

ही अनजान खड़ी मुँह फेरि के,
क्यों दुखिया मोंहि अंक लगायो ।
आपने भागि के चीन्हन की
करिके दसा या, कहौ काह है पायो ।।
सौति के साथ कियो रति जो
अँगराग सो लाल हियो पुँछि छायो ।
स्नेह-सनी अलकावलि छवै,
सोइ देखहु साँवरो अंक उपायो ।

२३-६-५६

१५/१८ शार्दूलविक्रीडित

एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरत
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः
आलापोऽपि न विश्रुतः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ।।

दूर से ही अभिनन्दन के कारण (वहाने) एक आसन पर बैठना टाल दिया गया, पान लाने के बहाने से गाढ़ालिंगन भी संविघ्नित (वाधित) कर दिया गया, निकट स्थित परिजन (नौकर-चाकर) को काम में लगाती हुई उससे बातचीत भी ठीक से नहीं सुनी गई, (इस प्रकार) उस चतुर नायिका के द्वारा अपने प्रिय के प्रति किए गए उपचार (शिष्टाचार) से क्रोध सार्थक किया गया ।

आसन सों उठि दूर गई हटि,
पास पिया कों न नेकु बिठायो ।
पान लियावन को छल कै,
गहि गाढ़ अलिंगन को टरकायो ॥
नाह की नाहीं सुनी, औ बुलाय के
सेवक पासहिँ काम लगायो ।
या बिधि आदर के मिस नागरि,
मानिनि पूरन मान निभायो ॥

२३-६-५६

१६/१९ शार्दूलविक्रीडित

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबंधच्छलः
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमल्लसन्मानसा
मन्तर्हासिलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति

एक आसन पर बैठी हुई दो प्रियतमाओं को देखकर, पीछे से यत्नपूर्वक (दबे पाँव छिपकर) आकर, खेल के प्रसंग के बहाने से एक की आँखें मूँदकर, कुछ-कुछ टेढ़ी की गई हुई गरदन वाला धूर्त्त, रोमांच से युक्त प्रेम के कारण उल्लास से पूर्ण हो गई हुई, भीतरी प्रसन्नता से सुशोभित होते हुए कपोल-फलक वाली दूसरी को चूमता है ।

एकई आसन देखि प्रिया दोऊ,
पीतम पीछे सों है छिपि आयो ।
एक के नैनन मूंदि के, नैन—
मिहीचनि खेल को ख्याल बनायो ।
प्रीति प्रफुल्लित दूसरी के लखि
लोल कपोल लला ललचायो ।
टेढ़ो गरो करि, चूम्यो छली
पुलकाकुल भावती के मन भायो ॥

२२-६-५६

१७/२० हरिणी

चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्० मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेशिता

चरणों पर गिरने के कारण प्रसन्नता-विमुख हो गए, 'छिपकर धूर्त्त का आचरण करने वाले !' ऐसा क्रोध से कहकर कठोर कर दिए हुए, रमण के चले जाने पर, जोर से सांस लेकर स्तनों पर रखे हुए हाथ वाली से आँसू से भरी हुई दृष्टि सखियों पर डाली गई।

फाउँ पर्यो पिय, दूरि कर्यो तिय,
सो मन माँहि विषाद हो छायो।
'भारी छली शठ' यों कहि रोष सों,
औरहू ताहि कठोर बनायो॥
पीउ गयो, लखि, ऊँची उसास लै,
पीन पयोधर पे कर ठायो।
आँसु के पूरन सों परिपूरन
दीठि सखीजन ओर उठायो॥

२६-६-५६

१८/३१ शार्दूलविक्रीडित

कांच्या गाढतरावबद्धवसनप्रान्ता किमर्थं पुन-
र्मुग्धाक्षी स्वपितीति तत्परिजनं स्वैरं प्रिये पृच्छति
मातः स्वप्तुमपीह वारयति मामित्याहितक्रोधया
पर्य्यस्य स्वपितिच्छलेन शयने दत्तोऽवकाशस्तया

'तो फिर क्यों करधनी से दृढ़ता के साथ बाँधे गए हुए वसन छोर वाली, भोले नेत्रों वाली, सो रही है ?' इस प्रकार धीरे से उसकी सेविका से प्रिय के पूछने पर 'मैया मुझे यहाँ सोने से भी रोकता है' इस प्रकार क्रोध से भरी हुई उस (नायिका) से कपट से बिछौने पर करवट लेकर दिए गए स्थान वाला वह सो रहता है।

'क्यों कसि बाँधि के सारिहि किंकिनि,
सोवति भोरे विलोचन वारी ?'
धीरे से पास बुलाय के दासिहिं
पूछ्यो हरैं हरि, 'बात कहा री ?'
'माई री, सोवन देत न है मोहिं'
बोली तिया करिकै गरो भारी।
रोष बहाने करौट लै, पीउ कौं
स्थान दयो, गयो सोय बिहारी।।

२६-६-५६

१६/२३ शार्दूलविक्रीडित

एकस्मिन शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो
रन्योन्यास्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोगौंरवम्
दम्पत्योः शनकैरपाङ्वलनान्मिश्रीभवच्चक्षुसो
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसं व्यासक्तकण्ठग्रहः

एक ही बिछौने पर विमुखता के कारण उत्तर रहित होकर दुखी होते हुए, एक दूसरे के प्रति हृदय में अनुरूप भाव के रहते हुए भी, गौरव की रक्षा करते हुए, धीरे से नेत्र प्रांतों के मुड़ जाने पर, (परस्पर) मिलते हुए नेत्रों वाले दम्पति का मान-कलह, हँसी के वेग के साथ कंठालिगन से युक्त होकर भग्न हो गया।

एकई सेज पै सोए दोऊ
मुँह फेरि के, मौन, विषाद भरे।
दोऊ लिए हैं मनावन भाव,
पै राखत मान को मान, अरे।।
दोऊ लख्यौ कनखीनि, दुहूनि के—
नैन हैं नैन सो जाय लरे।
हर्ष सों दोऊ हँसे बिहँसे,
छुटि मान गयो, दोऊ लागे गरे।।

२६-६-५६

२०/२४ शार्दूलविक्रीडित

पश्यामो मयि किं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मां नालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याश्रितः
इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो बाष्पस्तु मुक्तस्तया

देखता हूँ कि यह मेरे प्रति क्या करती है, यह सोचकर मुझसे स्थिरता धारण की गई। यह शठ मुझसे बोलता क्यों नहीं है, यह सोचकर उससे भी कोप का आश्रय लिया गया। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति विलक्षता से युक्त दृष्टि के कारण आकर्षक हो गए हुए उस विशिष्ट अवसर पर मुझसे छल से हँसा गया और उस (नायिका) से धैर्य को हर लेने वाला आंसू गिराया गया।

'देखनो का करती हमसों'
इहि सोचि के हों थिरता कछु ठायो।
'या सठ काहे न बोलत है?'
इमि सोचि तिया, मन रोष बढ़ायो॥
सूने, सके, लजे, दोउन के दृग
औसर ऐसो विचित्र उपायो।
हौं हँसि दीन्यो दसा लखि वा,
तिया धीर-बहावन आँसु बहायो॥

२६-६-५६

२१/२५ शिखरिणी

परिम्लाने माने मुखशशिनि तस्याः करधृते
मयि क्षीणोपाये प्रणिपतनमात्रैकशरणे
तया पक्ष्मप्रान्तव्रजपुटनिरुद्धेन सहसा
प्रसादो बाष्पेण स्तनतटविशीर्णेन कथितः

मान के मंद हो जाने पर और उसके मुखचन्द्र के हाथ के ऊपर रखे जाने पर, (और) मेरे नष्ट उपाय वाले तथा प्रणिपात मात्र ही एक शरण वाला हो जाने पर, उससे बरौनियों के कोनों पर रोके हुए और सहसा स्तन-तट पर बिखर गए हुए आँसू से प्रसन्नता (कृपा) सूचित की गई।

छीन भए उपचार सबै,
पग पै परिबोई रह्यो इक चारो ।
मान मलीन भयो सहसा,
मुख-चन्द हथेलिन ऊपर धारो ॥
लै पलकानि थमे, कुच ऊपर—
आनि गिरे, अँसुआनि सहारो ।
मानवती ने जनायो मया करि
मोपै अनुग्रह आपनो भारो ॥

२४-६-५६

२२/२६ शार्दूलविक्रीडित

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतकरव्याजेन गोपाय्यते
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्यापि तद्विस्मृतम्

'उसके घने विलेपन से युक्त स्तनप्रांत के आलिगन की मुद्रा से अंकित वक्षस्थल चरणों पर झुकने के प्रसंग के बहाने से क्यों छिपाया जा रहा है ?' ऐसा (उससे) कहे जाने पर 'वह कहाँ है ?' ऐसा सहसा कहकर उसको पोंछ डालने के लिए बेग से मेरे द्वारा वह आलिगित की गई । तन्वी से भी उस सुख के कारण वह बात भुला दी गई ।

'और के पीन-उरोज लगे—
अँगराग, लगे पुँछि के तुव छाती ।
मो पग लागन के मिस यों
क्यों छिपावत जात हो सौति-सँघाती ?
या कहतै तिय के, 'है कहाँ ?' कहि,
पोंछन की करी रीति सुहाती ।
गाढ़ अलिगन में कस्यो, मानिनि—
भूलि गई सुख के मद माती ॥

२४-६-५६

२३/२७ शार्दूलविक्रीडित

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकयाधत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः

'ऐ भोली आँखों वाली, तुम बिना चोली के ही मन को हरने वाली शोभा धारण करती हो' इस प्रकार कहकर प्रियतम के उस (चोली) की गांठ का स्पर्श करने पर, शैय्या के निकट बैठी हुई मुसकुराती हुई सखी (नायिका) के नेत्रों के उल्लास से आनन्दित हो गई हुई सखियाँ धीरे से अलीक वचन की स्थापना के साथ निकल गईं।

'कंचुकिऊ बिना कांति मनोहर
धारति भोले विलोचनवारी।'
या कहि चोली की गाँठ छुई
जो बँधी कसि पीठ पै, रंग-विहारी॥
सेज समीप तिया अधरान
लसी हँसो नैनन मोह विभा री।
देखि सुखी सखियाँ अँखियाँ
'बड़ी बेर भई' कहि के टरीं सारी॥

३०-६-५६

२४/२८ शार्दूलविक्रीडित

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने

भ्रूभंग करने पर भी आँख अधिक उत्कंठायुक्त होकर देखती है। चित्त के कठोरता को प्राप्त कराए जाने पर भी शरीर रोमांच का अवलम्बन लेता है। वाणी के रोके जाने पर भी यह जला मुख मुस्कराहट से युक्त हो जाता है। तो उस व्यक्ति के दिखाई पड़ने पर मान का कैसे निर्वाह होगा।

भौंहन टेढ़ी करौं हौं किती
अँखियाँ नहीं मानें लखैं ललचाई।
या चित जेतो कठोर करौ
तन होत रोमांचित तेतौ सदाई॥
रोकत जीभिहिं बोलन सों,
पै जरे मुँह पै स्मिति जात है आई।
पीउ के सौंहन होत, या मान को—
कैसे निबाहनो होइगो माई।

३०-६-५६

२५/१३२ शार्दूलविक्रीडित

कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः
आयाता वयमागमिष्यति सुहृद्वर्गस्य भाग्योदयैः
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयांजलिः

"हे कांते, तुम आँखों को बन्द कर कुछ दिनों को बिताओ।"

"कल्याण हो, कल्याण हो, मैं आँखों को बन्द कर लूँगी, जब तक दिशाएँ सूनी नहीं हो जातीं।"

"हम आ ही गए हैं (ऐसा समझो)"
"मित्र वर्ग के भाग्योदय से तुम आओगे।"
"तुम्हारा अभिलषित सन्देश क्या है, बोलो।"
"तीर्थो में जलांजलि।"

"आँखिहि मूँदि बिताओ कछू दिन"
"हो सुभ, आप पयान करीजं।
सूनी न ह्वै है दिसा पहिलैं
इन आँखिन मूँदिहों, ध्यान धरीजै"॥

"आ ही गया समझौ अरी बावरी"
"मीत को भागि-उदै-सुख दीजै"
"आपनो भायो सँदेसो कहो"
"पिय तीर्थ मैं मेरी जलांजलि कीजै।"

३०-६-५६

२६/२६ शार्दूलविक्रीडित

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदितिलुठल्लोलालकैरश्रुभिः

वह पति के प्रथम अपराध के समय सखी के उपदेश के बिना, विभ्रम के साथ अंग मोड़कर व्यंगोक्ति का प्रकाशन नहीं जानती। वह बाला तो मोड़े हुए कमल के समान नेत्रों वाली निर्मल स्वच्छ कपोलों के मूल में गिरे हुए और लौटते हुए लोल अलकों से युक्त आँसुओं से रोती भर है।

का करिबो न सिखायो सखी
पहिलै अपराध करै जब प्यारौ।
याही सों अंगन मोरि न जानत,
कैसैंक व्यंग के बैन उचारौ॥
आँसु भरे दृग-कंजन सों
बस रोइबो एक रह्यौ उपचारौ।
स्वच्छ कपोलन पै अँसुवा गिरे
भीगी लटैं सटीं पाइ पुचारौ॥

१४-६-५६

२७/३० हरिणी

भवतु विदितं भव्यालापैरलं प्रिय गम्यतां
तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं विधिस्तु पराङ्मुखः

तव यदि तथाभूतं प्रेम प्रपन्नमिमां दशां
प्रकृति तरले का नः पीडा गते हतजीविते

अच्छा, अच्छा, मालूम हो गया, मीठी बातें रहने दीजिए, हे प्रिय, जाइए। तुम्हारा जरा भी दोष नहीं है, हमारा ही दैव परांमुख है। यदि तुम्हारा उस प्रकार का प्रेम इस दशा को प्राप्त हो गया, तो स्वभाव से ही चंचल इस मेरे अभागे प्राण के चले जाने पर तुम्हें कौन सी पीड़ा होगी ?

जाहु जू, जाहु जू, जानि गई सब,
व्यर्थ न बातें बनाओ कन्हैया।
दोष तिहारो न यामें कछू,
विधना ही विरोधी भयो या समैया ॥
गाढ़ो तिहारो जु प्रेम रह्यौ—
इतनो, जु पै वाकी दसा भई है या।
तौ मम चंचल प्रान के जात,
बिथा तुम्हें कौन-सी होइगी, दैया ॥

१४-१०-५६

२८/३१ हरिणी

उरसि निहितस्तारौ हारः, कृता जघने घने
कलकलवती कांची, पादौ क्वणन्मणिनूपुरौ
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥

छाती पर उत्तम मोतियों का हार रखा हुआ है, पीन जघन पर कलकल ध्वनि वाली काँची है, चरणों में क्वणन करते हुए मणि-नूपुर हैं; हे मुग्धे, यदि इस प्रकार तुम नगाड़ा बजाती हुई प्रिय के पास अभिसार करती हो, तो फिर अधिक भय से जनित कंप के साथ दिशाओं की ओर क्यों देखती हो ?

छातिन हार बिराजत ज्योतित
उज्ज्वल औ बड़े मोतिनवारो।
पीन नितंबन किंकिन सोर—
करै, पग नूपुर कौ झनकारो ॥

जाति चली पिउ सों मिलिबे—
हित, सुन्दरि ऐसे बजाइ नगारो।
तौ अधिकै भय कंप सों आकुल,
चारिहुँ ओर कहौ क्यों निहारो ?

२०-६-५६

२६।३३ शार्दूलविक्रीडित

प्रातः प्रातरुपागतेन जनिता निर्न्निद्रता चक्षुषो—
र्मन्दायां मयि गौरवव्यपगमादुत्पादितं लाघवम्
किं मुग्धेन मया कृतं रमण धीर्मुक्ता त्वया गम्यतां
दुःस्थं तिष्ठसि यच्च पथ्यमधुना कर्त्तास्मि तच्छ्रोष्यसि

"प्रतिदिन प्रातःकाल समीप आये हुए तुम से नेत्रों की निर्निद्रता उत्पन्न कर दी गई है। गौरव के नष्ट हो जाने के कारण मुझ अभागिन में लघुता उत्पन्न कर दी गई है।"

"मुझ मूढ के द्वारा किया क्या गया है ?"

"रमण, तुमसे बुद्धि छोड़ दी गई है, जाओ कष्ट से खड़े हो, इस समय मैं जो पथ्य करूँगी, उसे तुम सुन लोगे।"

"रोज भिनसारे आवो, (हमें व्यर्थ कलपावो)
आँखिन उनिद्र रोग दयो उपजाय है।
गौरव हमारौ हर्‍यौ, हमै अति लघु कर्‍यौ,
(जाहु जू हमारें सुत सूरज सहाय हैं)" ॥

"कहा मोहिं मूढ़ ने कियो है कहौ", "रमन जू,
बस तुम दई सब बुद्धि बिसराय है।
सौहै रहिबे मैं मम घने दुख पावौ, जाहु,
सुनि लैहौ (चैन सों), जो पथ्य हम खायहें ॥

१४-१०-५६

३०।३४ शार्दूलविक्रीडित

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयम्
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्

बाला वह है, और हम लजीले मन वाले हैं,

स्त्री वह है, और कातर हम हैं,

स्थूल और उठे स्तनों के जोड़े वह धारण करती है, और थकावट से युक्त हम हैं।

भारी जघनस्थल से आक्रांत वह है, और जाने में असमर्थ हम हैं,

तो यह अद्भुत बात है कि हम दूसरे व्यक्ति में टिके हुए दोषों के कारण अपटु हो गए हैं।

बाला वह, बात नहीं फूटति हमारैं मुँह,
नारी सुकुमारी वह, कातर हैं भारी हम।
पीन, उठे, तुंग, भरे, भारी, भरकम, जुग—
धारे है पयोधर वा, थके हैं अनारी हम॥
घने जघनन भार लदी वा कृसोदरी है,
असमर्थ चलिबे में बने हैं अगारी हम।
दोष तो बिराजत है और के बदन माहिँ,
बात या अपूरब है, दोष अधिकारी हम॥

३०-६-५६

३१।३५ शार्दूलविक्रीडित

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्त्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते

प्रिय के मित्र कंकणों द्वारा प्रस्थान कर दिया गया, आँसुओं से निरन्तर बहा गया, धैर्य के द्वारा क्षण भर भी नहीं बैठा गया, चित्त के द्वारा आगे जाने का निश्चय किया गया, (इस प्रकार) प्रियतम के काम के निमित्त निश्चित चित्तबान होने पर सबके सब एक ही साथ चल पड़े। जाना निश्चित होने पर, हे प्राण, प्रिय मित्रों का समूह क्यों छोड़ा जा रहा है ?

पीउ के प्यारे सखा कर-कंकन
धीरे गए, बहि आँसु पनारे।
धीरजऊ छन एक रह्यो नहीं,
या चित आगे चल्यो मन मारे।।
जैसे पिया परदेस पयान को
कीन्ह्यो बिचार, चले सँग सारे।
जानो तिहारो सुनिश्चित है,
फेरि साथ न देत क्यों प्रान हमारे।।

२०-१०-५६

३२।३६ शार्दूलविक्रीडित

संदष्टाधरपल्लवा सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती
मा मा मुंच शठेति कोपवचनैरानर्त्तितभ्रूलता
सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनीः
प्राप्तं तैरमृतं मुधैव मथितो मूढैः सुरैः सागरः

अधर पल्लवों के दाँत से काटे जाने पर, चकित होकर हाथ के अग्र भाग को हिलाती हुई, 'धूर्त्त मत, मत, छोड़ दे' इस प्रकार क्रोधपूर्ण वचनों से भ्रू-लता को नचाती हुई, सीत्कार के कारण सुन्दर हो गए हुए लोचनों वाली मानिनी, जिनसे वेग के साथ चूमी गई, उन्हीं से अमृत पाया गया, मूर्ख देवताओं से व्यर्थ ही सागर मथा गया।

मानिनी के पल्लव-अधर काटि दाँतन सों,
आइ के अचिन्त्य, तिया चकित बनावै जो।
हाथ को हिलाय, 'सठ, नहीं, नहीं, छोड़, मुझे'
कोप सों कहति वामै भुज गहि लावै जो।।

भ्रू-लता कँपाती, सी सी करति सुलोचना के
अरुन अधर चूमि-चूमि अठिलावै जो।
व्यर्थ देव गन मिलि सागर अपार मथ्यो,
अमृत मधुर, मेरी जान, कृती पावै सो ।।

२२-१०-५६

३३।३७ शार्दूलविक्रीडित

सुप्तोऽयं सखि सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरं
प्रेमावेशितया मया सरलयान्यस्तं मुखं तन्मुखे ।
ज्ञातेऽलीक निमीलने नयनयोर्धूर्त्तस्य रोमाञ्चतो
लज्जासीन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यैः क्रमैः

हे सखि, यह सो गया, तुमसे भी सोया जाय, ऐसा कहकर सखियाँ चली गईं। इसके पश्चात् प्रेम से आविष्ट मुझ सरला से उस मुख पर मुख रखा गया। उस धूर्त के रोमांच से आँखों का कपटपूर्वक बन्द किया जाना जान लिए जाने पर मुझे लज्जा आ गई, वह भी उस समय के लिए उचित व्धापारों से उसके द्वारा हर ली गई।

"सोय गयो पिय, सोवहु जाय
सखी तुमहूँ, अँखियाँ अलसानीं।"
यों कहि सारी टरीं सखियाँ,
पिय को मुख देखि कै हौं ललचानी ।।
वा मुख पै मुख जाय धर्‌यो,
सो रोमांचित भो, छल देखि लजानी।
कै उपचार सबै समयोचित,
सोऊ हर्‌यो प्रिय, एक न मानी ।।

२२-१०-५६

३४।३८ मन्दाक्रान्ता

कोपो यत्र भृकुटिरचना, निग्रहो यत्र मौनं ।
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो, यत्र दृष्टिः प्रसादः ।।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैषमं पश्य जातं ।
त्वं पादान्ते लुठसि नहि मे मन्युमोक्षः खलायाः ।।

जिस प्रेम में भौंहों की रचना ही कोप था; जिसमें मौन ही दण्ड था, जिसमें एक दूसरे को देखकर मुस्कुराना अनुनय था, जिसमें दृष्टिपात ही कृपा थी, देखो उस प्रेम की इस समय यह विषमता हो गई है कि तुम चरणों के पास लोटते हो और मुझ दुष्टा का क्रोध नहीं छूटता ।

कोप हो भौंहन की कुटिलाईहि,
मौन ही मैं रही राजि रुखाई ।
संधि रही मुसकानि, चितौनि में,
पूरे प्रसादन की तरलाई ।।
कैसे विकार भयो उहि प्रेम में,
आजु लखौ यह नौबति आई ।
लोटत हौ तुम पाँव परे मम,
हौं खल छांड़ति ना निठुराई ।।

१२-६-५६

३५।३६ मालिनी

सुतनु जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां ।
न खलु तव कदाचित्कोप एवंविधोऽभूत ।।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या ।
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ।।

'हे सुन्दर शरीर वाली, क्रोध छोड़ दो, चरणों में झुके हुए मुझको देखो । कभी भी तुम्हारा कोप इस प्रकार का नहीं हुआ था ।' नाथ के ऐसा कहने पर

कुछ-कुछ तिरछे तथा बन्द किए गए नेत्रों वाली से प्रभूत आँसू गिराया गया, कुछ कहा नहीं गया।

'छोड़हु कोप या, देखहु हौं नत-
तो पद पद्म में, हे सुकुमारी।
और कबौं नहिं कोप कर्यो अस,
जैसो कर्यो अब प्रानपियारी॥'

पीउ के यौं कहतैं लख्यौ वंकिम,
अर्द्ध निमीलित नैन उघारी।
बोली कछू नहीं, आँखिन सों,
अँसुवान के पूर चले बहि भारी॥

१२-६-५६

३६।४० शार्दूलविक्रीडित

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किंतु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्

गाढ़ आलिंगन से बहुत छोटे कर दिए गए हुए स्तनों से प्रकट होते हुए रोमांच से युक्त तथा घने प्रेम रस की अधिकता के कारण खिसकते हुए शोभा से युक्त नितंब के वस्त्र वाली होती हुई, 'ऐ मान देने वाले, मत, मत, मत, मुझे मत बहुत (छेड़)। बस'। इस प्रकार क्षीण अधरों से बोलती हुई (वह नायिका) सो गई, किंवा मर गई, अथवा मेरे मन में लीन हो गई, या एकदम विलीन हो गई।

कसे तें प्रगाढ़ परिरंभण में छोटे भए,
कुचनि रोमांच छए, दबी छवि भारी सों।
घने स्नेह रस अतिरेक सों खिसकि गई,
ललित नितंबन सों सारी सुखकारी सों॥

'मत, मत, मत, मत, मुझे मत, मुझे मत'
कहति अधूरे बैन भरी सिसकारी सों।
सो गई, कै मरि गई, कैधों मन लीन भई,
कैधौं है विलीन भई प्रिया सुकुमारी सो।।

२२-१०-५९

३७।४१ शिखरिणी

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यंतः प्रथमपरिहासे नववधूः।।

नई बहू पहले परिहास के समय, पति के वस्त्र से लगने पर विनय से युक्त होकर मुख को झुका लेती है, हठपूर्वक आलिंगन चाहने पर अंगों को छिपाती हुई हटा लेती है, कुछ कह नहीं सकती, मुसकुराहट से युक्त मुखवाली सखी की ओर दृष्टि किए हुए लज्जा से दुखित होती है।

सारी छुएँ पिय के, वनिता
ह्वै विनीत बड़ी, सिर नीचे झुकावै।
चाहै पिया कसिबो भुज में हठि,
अंग समेटि तिया हटि जावै।।
बोलि सकै न नवेली कछू
मुसकाति सखी तन दीठि उठावै।
लाज के मारे नई दुलही,
पहिले परिहास समै दुख पावै।।

२२-१०-५९

३८।४३ शिखरिणी

गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने विगलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः
तदुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतांस्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्

प्रेम के बन्धन के नष्ट हो जाने पर, प्रणय जनित मानातिशय के विगलित हो जाने पर, सद्भाव के समाप्त हो जाने पर, साधारण जन के सदृश प्रिय के सामने से निकल जाने पर, हे प्यारी सखी, उन बीते हुए दिनों को सोच-सोच करके, नहीं जानती कि कौन सा कारण है, जिससे हृदय सौ टुकड़े नहीं हो जाता।

स्नेह को बंधन छूटि गयो,
सनमानहू प्रेम को खूटि गयो।
दूरि गयो सदभाव सबै,
न रह्यौ चित चाव, अदाव ठयो॥
आवत जात पिया मम सौंहन,
जैसे न चीन्हत, कोऊ बियो।
बीते दिनान की बातन सोचि,
न फाटत क्यों सखि मेरो हियो॥

२२-१०-५६

३९।४४ हरिणी

चिरविरहिणोरत्युत्कण्ठाश्लथीकृतगात्रयो-
र्नवभिव जगज्जातं भूयश्चिरादभिनन्दतोः
कथमपि दिने दीर्घे याते निशामघिरूढयोः
प्रसरति कथा बह्वी यूनोर्यथा न तथा रतिः

बहुत दिनों से बिछुड़े हुए रति की उत्सुकता से शिथिल कर दिए गए अंगों वाले, पुनः नए के सदृश हो गए हुए संसार का बहुत देर तक अभिनन्दन करते हुए, किसी प्रकार दीर्घ दिन के बीत जाने पर, रात्रि को प्राप्त हो गए हुए, युवा और युवती की कथा जितना अधिक प्रसरित होती है, उतना अधिक रति नहीं ।

जे चिरकाल रहैं विरही
दुख के दिन दीरघ काटि बितावैं ।
जे रति चाहन सों श्लथ अंग
बने, रति की रजनी केहूँ पावैं ।।
जैसैं भयो जग जादू सों दूसरो
यों मन मानि प्रमोद मनावैं ।
जेती बढ़ावैं कथा वे युवा जन,
तेती नहीं रति-केलि बढ़ावैं ।।

२०-१०-५६

४०।४५ शार्दूलविक्रीडित

दीर्घा वन्दनमालिकाविरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम्

दृष्टि से ही दीर्घ वंदनमाला बनाई गई, नील कमलों से नहीं । फूलों की राशि स्मिति से ही रची गई, कुन्द जाती आदि से नहीं । स्वेद टपकाने वाले पयोघरों के जोड़े से अर्घ्य दिया गया, घड़े के जल से नहीं । (इस प्रकार) प्रवेश करते हुए प्रिय के प्रति तन्वी से अपने अंगों के द्वारा ही मंगल किया गया ।

नील सरोरुह सों नहीं, दीठि सों
दीरघ बंदनवार बनायो ।
कुंद चमेली के फूल नहीं,
मुसकान-प्रसूनन कों बगरायो ।।

कुंभ भरे जल सों नहीं, अर्घ्य
दियो कुच-कुंभन स्वेद चुचायो ।
आवत पीय के तीय ने आपने
अंगन ही सब मंगल ठायो ॥

८-६-५६

४१।४६ शार्दूलविक्रीडित

कान्ते सागसि शापिते प्रियसखीवेशं विधायागते
भ्रान्त्यालिङ्ग्य मया रहस्यमुदितं तत्संगमाकांक्षया
मुग्धे दुष्करमेतदित्यतितरामुक्त्वा सहासं बला-
दालिङ्ग्य च्छलितास्मि तेन कितवे नाथ प्रदोषागमे ।

सापराध (नहीं आने के लिए) शपथ दिलाए गए प्रिय के प्यारी सखी का वेश बनाकर आ जाने पर, भ्रम से आलिंगन करके, उसके समागम की प्रबल आकांक्षा से मुझसे भेद कह दिया गया । 'हे मुग्धे, यह तो कठिन है,' इस प्रकार जोर से कहकर, हास के साथ बलपूर्वक आलिंगन करके उस धूर्त्त के द्वारा मैं आज प्रदोष के आने पर छली गई हूँ ।

सौंहैं न ऐबे की सौंह धराइ दई,
तऊ दोषी सखी बनि आयो ।
विभ्रम सों लिपटी पिय सों,
मिलिबे की उमंग हौं ताहि बतायो ॥
'बावरी संभव है नहिं या',
कहिके हँसि बेगि सो कंठ लगायो ।
छैल छबीले छली ने अली,
रजनीमुख आघत मोहिं छकायो ॥

२३-१०-५६

४२।४७ शार्दूलविक्रीडित

आशङ्क्य प्रणतिं पटान्तपिहितौ पादौ करोत्यादराद्
व्याजेनागतमावृणोति हसितं न स्पष्टमुद्वीक्षते
मय्यालापवति प्रतीपवचनं सख्या सहाभाषते
तस्यास्तिष्ठतु निर्भरप्रणयिता मानोऽपि रम्योदयः

(मेरे) पाद-प्रणति की आशंका से चरणों को वस्त्र के अंचल से ढका हुआ कर लेती है। यत्नपूर्वक, आई हुई हँसी को, किसी बहाने से छिपा लेती है। स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर देखती नहीं। मेरे बातचीत करने पर सखी के साथ उल्टी बातें कहती है। उसका गाढ़ प्रणय वाली होने का भाव तो दूर रहे, उसका मान भी रमणीय उदय वाला है।

हौं कहूँ जाय गिरौं नहीं पाँवन,
या डर है पट सों पद ढाँपत।
रोकत है बल कै अधरान,
हँसी, नहीं ऊपर ताकत, काँपत ॥
मो सों कछू नहीं बोलत वाल है,
बोलौं तो जाइ सखी सों अलापत।
प्रेम प्रगाढ़ की बात कहा,
मोहि मानऊ याको मनोहर लागत ॥

२३-१०-५६

४३।४८ शार्दूलविक्रीडित

सा यावन्ति पदान्यलीकवचनैरालीजनैः शिक्षिता
तावन्त्येव कृतागसो द्रुततरं व्याहृत्य पत्युः पुरः
प्रारब्धा पुरतो यथा मनसिजस्याज्ञा तथा वर्त्तितुं
प्रेम्णो मौग्ध्यविभूषणस्य सहजः कोऽप्येष कान्तः क्रमः

झूठे वचनों वाली सखियों के द्वारा जितने शब्द उसे बताए गए थे, उतने ही (शब्दों) को सापराध पति के सम्मुख शीघ्रता से कहकर, पहले की कामदेव की जैसी आज्ञा थी, उसके अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। भोलेपन रूपी गहने वाले स्वाभाविक प्रेम का यही रमणीय तथा अनिर्वचनीय क्रम होता है।

दोषी पिया सन जो कहिबे हित,
बैन अलीक अलीन सिखायो।
पीउ के सामुहै जाय कै बेग सों,
पाठ रटो सो सोई दुहरायो॥
जैसी कछू रही काम की प्रेरणा,
फेरि सोई ढँग आपुही ठायो।
भोरे सनेह को या सहजै,
अरु सुन्दर ढंग, न कोऊ पढ़ायो॥

२३-१०-५३

४४।४६ शार्दूलविक्रीडित

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणिस्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चिन्नतभ्रूलतम्
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्ज्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि।

प्रिय के अपराध युक्त हो जाने पर मानिनी का प्रपंच चतुर नेत्र (उसके) दूर रहने पर उत्सुक, आ जाने पर संकुचित, संभाषण करने पर विस्फारित (फैला हुआ), आलिंगन करते समय अरुण, वस्त्र पकड़ने पर कोप से युक्त सुन्दर भौंहों वाला, पांवों पर झुकते के प्रसंग (के उपस्थित होने पर) आँसू के जल से भरी हुई दृष्टि वाला, हो जाता है। यह विस्मयकारी है।

दूर रहे उत्सुक हों, आए पर संकुचित,
बोलचाल बेला में बनैं ए प्रसरित गति।
परिरंभ काल में हैं लाल ततकाल होत,
बसन गहे पै बंक भौंह सों कुपित पति॥

पावन पै परिबे के समै में बनैं ए साश्रु,
(झलकत रहत सदैव अनुमति रति)।
भारी परपंची कैसे बनि जात बाला नैन,
पीउ अपराध करैं जब, अचरज अति ॥

२१-१०-५६

४५/५० शार्दूलविक्रीडित

अङ्गानामतितानवं कथमिदं कम्पश्च कस्मात्कुतो
मुग्धे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति
तन्व्या सर्वमिदं स्वभावजमिति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर
व्यापी बाष्पभरस्तया चलितया निःश्वस्य मुक्तोऽन्यतः

"हे मुग्धे, अंगों की यह अति कृशता कैसे (हुई) ? किस कारण से यह कंपन है ? और किस कारण से मुख पीले कपोलों वाला हो गया है ?" इस प्रकार प्राणेश्वर के पूछने पर "यह सब कुछ स्वभावजनित है" ऐसा कहकर उस तन्वी के द्वारा चलकर निःश्वास लेकर बरौनियों के भीतर व्याप्त आँसुओं की राशि दूसरी ओर छोड़ दी गई।

"काहे को सूखि गए सब अंग हैं ?
काहे को काँपत है तन तेरो ?
काहे कौ पीरे कपोल परे ?
कस रुखे विलोचन मो तन हेर्‌यो ?"
पीय के पूछतै तीय कह्यो,
"सहजै सब या", कहिकै मुँह फेर्‌यो।
खींचि निसास, चितै अनतै,
छलकै अँसुवान की बूंद बिखेर्‌यो ॥

८-६-५६

४६/५१ शिखरिणी

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक् परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैवतरुणी

तन्वी के सम्मुख नामोच्चारण की भूल से चकित हो गया हुआ, नतमुख होकर विलक्षता (लज्जा, आकुलता आदि) के कारण मैं दईमारा कुछ लिखने में प्रवृत्त हो गया, किन्तु किसी तरह रेखाओं का न्यास स्पष्ट होकर उसी तरह का हो गया, जिस कारण पुनः अंगों के साथ वही तरुणी प्रकट हो गई।

सुकिया तिया के आगैं मुँह सों निकरि गयो
भूल सों प्रमादबस परकीया प्रिया नाम।
चकित ह्वै, नीचे मुँह करि लयो, लाज-बस,
दईमारो लाग्यो खुरचन नख तेहि ठाम ॥
दैव की विचित्र गति लखौ छीन रेखन सौं
एक छवि एक रूप बनि गयो अभिराम।
ध्यान सों जो देखौ तो तरुनि सोई ठाढ़ी हँसे
जाके नाममात्र सों भई ही तिया गति बाम ॥

२१-१०-५६

४७/५३ हरिणी

कठिन हृदये मुञ्च भ्रांतिं व्यलीककथाश्रितां
पिशुनवचनैर्दुःखं नेतं न युक्तमिमं जनम्
किमिदमथवा सत्यं मुग्धे त्वयाऽद्य विनिश्चितं
यदाभिरुचितं तन्मे कृत्वा प्रिये सुखमास्यताम्

हे कठिन हृदये, मिथ्या बातों पर आधारित भ्रम को छोड़ो। चुगुलों के वचनों से इस सेवक को दुःख पहुँचाना उचित नहीं। अथवा हे मुग्धे, क्या तुमने

इसको सत्य रूप में निश्चित रूप में निश्चय कर लिया है, तो हे प्रिये जो तुम्हें रुचे, मेरे प्रति वही करके सुखी होओ।

झूठी बतियान के पत्यान सों भयो जो भ्रम
छोड़ौ ताहि, कठिन करौ न मृदु चित है।
चुगुल चबाइन की बातन के फेर परि,
हौं तो तव दास, दुख दीबो अनुचित है ॥
और जो हिये में निज मानि लयो सत्य याहि,
तब तौ हमैं न कछू कहिबो उचित है।
जामें तुम्हैं मिलै सुख सोई करौ प्रानप्यारी,
जानति भलै हौ, कहा हित अनहित है ॥

२१-१०-५६

४८/१२६ शार्दूलविक्रीडित

मन्दं मुद्रि तपांशवः परिपतज्झङ्कारझंझामरु
द्वेग ध्वस्तकुटीरकान्तरगतच्छिद्रेषु लब्धान्तराः
कर्मव्यग्रकुटुम्बिनीकुच तटस्वेदच्छिदः प्रावृषः
प्रारम्भे निपतन्ति कन्दलदलोल्लासाः पयोबिन्दवः

धीरे-धीरे धूल को दबाते हुए, वेग से चलती हुई तथा झंकार से युक्त झंझा वायु के वेग से ध्वस्त कुटीरों के भीतर व्याप्त छिद्रों में अवकाश पाकर, काम में लगी हुई गृहिणियों के स्तन-प्रांत के पसीने को नष्ट करते हुए, कंदलों के पत्तों को उल्लसित करते हुए, जल के बिन्दु वर्षा के प्रारम्भ में गिरते हैं।

उभरी मग धूरि कौं भूरि दबावत,
कोमल अंकुर कौं हुलसावत।
कु–प्रभंजन भंजन सों बने छानिन–
छेदन में घुसि पंथ बनावत ॥
गृह-काज लगी गृहिणी जन के
कुच-मंडल स्वेद के बुंद सुखावत।
पावस आवत ही, बुनियां
बरसैं, कदली-दल कौं हरषावत ॥

८-६-५६

४६/१२० वसंततिलका

पीतस्तुषारकिरणो मधुनैन सार्द्ध—
मन्तः प्रविश्य चषके प्रतिबिम्बवर्ती।
मानान्धकारमपि मानवतीजनस्य
नूनं विभेद यदसौ प्रससाद सद्यः

चषक के प्रतिबिम्ब में स्थित तुषार-किरण (चन्द्रमा) मदिरा के साथ ही पी लिया गया; उसने भीतर पैठकर मानिनियों के मान रूपी अन्धकार को भी निश्चय ही नष्ट कर दिया, जिसके कारण वे शीघ्र ही प्रसन्न हो गईं।

मद्य के पात्रन मैं प्रतिबिंबित
मंजु मयंक (मरीचिन वारौ)।
ताहि अँचै गईं मानिनियाँ
मधु साथ सबै (कला सोरस वारौ)।।
अंतर पैंठि बिनास कर्‌यो,
तेहि चंद नैं मान-घनौ-अँधियारौ।
मानिनि मान-विहीन भईं
सब, (फैलि गयो मधु हास उजारौ)।।

१३-६-५६

५०/१०३ मालिनी

नभसि जलदलक्ष्मीं सास्रया वीक्ष्य दृष्ट्या
प्रवससि यदि कान्तेत्यर्द्धमुक्त्वा कथञ्चित्
मम पटमवलंव्य प्रोल्लिखन्ती धरित्रीं
यदनु कृतवती सा तत्र वाचो निवृत्ताः

आँसू भरी हुई दृष्टि से आकाश में बादलों की शोभा देखकर 'हे कांत यदि परदेश जाते हो……' इस प्रकार किसी-किसी तरह आधा ही कहकर मेरे

वस्त्र को पकड़कर भूमि को कुरेदती हुई जो कुछ उसने इसके बाद किया, उस विषय में वाणी की गति नहीं है।

भरिकै अँखियाँ अँसुवा, नभ ओर,
लख्यो, घनी घेरि रही घनमाला।
'बालम जाहुगे जो परदेस कों...'
आधो कह्यो करि कैहूँ कसाला॥
छोर गहे पटुका के मेरे,
धरती नख से रही लेखती बाला।
पाछे करचो जो कछू दयिता,
सो कह्यो न परै, (पर्‍यो जीह पै ताला)॥

१२-६-५६

५१/१२७ द्रुतविलंबित

इयमसौ तरलायतलोचना
गुरुसमुन्नतपीनपयोधरा
पृथुनितम्बभरालसगामिनी
प्रियतमा मम जीवितहारिणी

चंचल तथा बड़े नेत्रों वाली, भारी समुन्नत तथा पीन पयोधरों वाली, विशाल नितम्बों के भार से अलस गति वाली, यह प्रियतमा मेरे प्राणों को विनोदित करने वाली है।

दीरघ बंक बिलोल बिलोकनि,
अंजन रंजित लोचनवारी।
गोरे, गरूरी, भरे, उभरे,
निखरे, खरे, पीन पयोधर वारी॥
भारी नितंब के भार सों सालस,
जो पग मंद उठावन वारी।
या तरुनी मम प्रानप्रिया,
नित जीवन मोद बढ़ावनवारी॥

८-६-५६

५२/११६ वसंततिलका

सालक्तकेन नवपल्लवकोमलेन
पादेन नूपुरवता मदनालसेन
यस्ताड्यते दयितया प्रणयापराधा-
त्सोऽङ्गीकृतो भगवता मकरध्वजेन

महावर से युक्त, नव पल्लव के सदृश कोमल, नूपुर से युक्त, काम से अलस चरण से जो प्रेम के अपराध के कारण प्रियतमा के द्वारा मारा जाता है, वह (पुरुष) भगवान काम के द्वारा अपनाया जाता है।

जावक रंजित, नूतन पल्लव,
से मृदु मंजुल औ अरुनारे।
नूपुर के रव सों परिपूरित,
जो मदनालस से मतवारे॥
प्रेम, पराध के कारन जो जन,
जात हैं पावन सों अस मारे।
जानि के आपने दास मनोज,
स-प्रीति सकारत ते जन सारे॥

२१-१०-५६

५३/५७ शार्दूलविक्रीडित

'वाले,' 'नाथ,' 'विमुञ्च मानिनि रुषं,' 'रोषान्मया किं कृतं'
'खेदोऽस्मासु' 'न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधामयि'
'तत्किं रोदिषि गद्‌गदेन वचसा,' 'कस्याग्रतो रुद्यते'
'नन्वेतन्मम' 'का तवास्मि' 'दयिता' 'नास्मीत्यतो रुद्यते'

'बाले !'
'नाथ ।'
'हे मानिनी क्रोध छोड़ो' ।
'क्रोध से मुझसे क्या कर लिया गया ?'
'मुझमें खेद (उत्पन्न कर दिया गया) ।'
'आपका तो मेरे प्रति कोई अपराध नहीं है, सब अपराध तो मेरे ही हैं ।'
'तो क्यों गद्गद वचनों से रो रही हो ?'
'किसके आगे रोया जा रहा है ?'
'निश्चय ही मेरे आगे ।
'तुम्हारी कौन हूँ ?
'प्यारी ।'
'नहीं हूँ, इसी से तो रोया जा रहा है ।'

'वल्लभे,' 'नाथ,' 'तजौ इहि रोष कौं,'
'रोष सों का बिगरो है तिहारौ !'
'खेद भयो मोहिं' 'है अपराध,
तिहारो नहीं, अपराध हमारौ' ॥
'तौ कत रोवति कंठ भरे इमि ?'
'रोवति हौं केहि आगे, विचारौ' ।
'मेरे,' 'तिहारी हौं 'कौन ?' 'प्रिया,'
'न रही प्रिया, रोवति यातें, न चारौ ।'

११-६-५६

५४/११६ स्रग्धरा

नीत्वोच्चैर्विक्षिपन्तः कृततुहिनकणासारसङ्गान् परागा
न्कौन्दानानन्दिताली नतितरसुरभीन् भूरिशो दिङ्मुखेषु
एते ते कुङ्कुमाक्तस्तनकलशभरास्फालनादुच्छलन्तः
पीत्वा सीत्कारिवक्त्रं शिशुहरिणदृशां हैमनावान्ति वाताः

कुंद पुष्प के तुषार कणों से गीले किए गए हुए अंग वाले भ्रमरों को आनंदित करने वाला, अत्यन्त सुगन्धित पराग को ऊँचे उठाकर दिशाओं के

मुखों पर प्रचुरता के साथ फेंकता हुआ, मृगछौनों की सी आँखों वाली स्त्रियों के कुंकुम से रँगे हुए स्तन-कलश के भार के टकराहट से उछलता हुआ और उनके सीत्कार से युक्त मुख को पीकर (चूमकर) यह हेमन्त पवन बहता है।

तुहिन सों सरस पराग कन कुंदन को,
सुरभित अति अलि सुखद अपार है।
ताहि लैं उठाय ऊँचैं, दसहू दिसान माहिं,
गेरत बखेरत है अतिसै उदार है॥

टकराइ उछरत भोरी हिरनाछिन कैं,
कुंकुम सों रँगे कुच-कलस सुढार है।
'सी सी' करैं बाल, चूमि तिनकौं बिहाल करि,
अंगन कँपाइ बहै हेउँत बयार है॥

२३-१०-५६

५५/१२६ स्रग्धरा

श्रुत्वा कस्मान्निशीथे नवघनरसितां विश्लथाङ्गं पतित्वा
शय्यायां भूमिपृष्ठे करतलधृतया दुःखितालीजनेन ।
सोत्कंठं मुक्तकंठं कठिनकुचतटाघातशीर्णाश्रुबिन्दु
स्मृत्वा स्मृत्वा प्रियस्य स्खलितमृदुवचो रुद्यते पान्थवध्वा ॥

अकस्मात आधी रात के समय, नूतन जलद के शब्द को सुनकर, शिथिल अंगों के साथ बिछौने से पृथ्वी पर गिरकर, दुःखिता सखियों से हाथ से पकड़ी गई हुई, पथिक की वधू से, उत्कंठा के साथ मुक्त कंठ से कठोर कुच तटों के आघात से बिखरे हुए अश्रु बिन्दु से युक्त होकर, प्रिय के स्खलन के मृदु वचनों का स्मरण कर करके रोया जा रहा है।

सुनि अधराति नव घन की गरज घोर,
सिथिल सरीर ह्वै अधीर गिरी धरा आय।
दुखित अलीगन हैं, धाय कै भईं सहाय,
हाथन लगाय, लयो तुरत उठाय काय॥

पीतम, पयान-काल औधि जो दई ही बाल,
करि मीठी बातैं सोचि-सोचि रोवै करि हाय ।
आँखिनि सों गिरि गिरि, कठिन कुचन परि,
उछरि उछरि आँसू बूंदैं रहीं छहराय ।।

२३-१०-५६

५६/५८ मन्दाक्रान्ता

श्लिष्टः कण्ठे किमिति न मया मूढया प्राणनाथ
श्चुम्बत्यस्मिन् वदनविधुतिः किं कृता किं न दृष्टः
नोक्तः कस्मादिति नववधूचेष्टितं चिन्तयन्ती
पश्चात्तापं वहति तरुणी प्रेम्णि जाते रसज्ञा

रसिका तरुणी प्रेम के उत्पन्न होने पर अपने नववधू होने के समय की चेष्टाओं का चिंतन करती हुई इस प्रकार पश्चाताप कर रही है—'उसके चूमने पर प्रेम के द्वारा प्राणनाथ क्यों न गले लगाए गए, मुझसे मुँह क्यों हिलाया गया, क्यों नहीं देखा गया और किस कारण से बोला नहीं गया ?'

'मूढ़ता मेरी, लगे पिय के गले,
हौहूँ न क्यों बढ़ि कंठ लगी ?
चूमतै, क्यों न लख्यौ, न कह्यौ कछु,
नीचे किए मुँह ठाढ़ी ठगी ?
आई बहू बनिके तुरतै तब,
क्यों न रँगीले के रंग रँगी ?'
सोचति औ पछताति मनै,
जब सों प्रिया प्यारे के प्रेम पगी ।।

१२-६-५६

५७।५६ स्रग्धरा

श्रुत्वा नामापि यस्य स्फुटघनपुलकं जायतेऽङ्गं समन्ताद्
दृष्ट्वा यस्याननेन्दुं भवति वपुरिदं चन्द्रकान्तानुकारि
तस्मिन्नागत्य कण्ठग्रहनिकटपदस्थायिनि प्राणनाथे
भग्नामानस्य चिन्ता भवति मम पुनर्वज्रमय्याः कदा नु

जिसका नाम मात्र सुनकर मेरा अंग चारों ओर से स्पष्ट घने पुलक से युक्त हो जाता है, जिसके मुखचन्द्र को देखकर ग्रह शरीर चंद्रकांत मणि का अनुकरण करने वाला हो जाता है, उस प्राणनाथ के आकर कंठालिंगन के लिए उचित निकट स्थान पर खड़े हो जाने पर मुझ वज्रमयी के मान-रक्षण की चिन्ता (न जाने) कब भग्न होवैगी ?

नाम सुने जैहिको सब अंगन,
है पुलकावलि होति धनी ।
आनन-इंदु लखे जेहि को
यह देह द्रवै जिमि चंद्रमनी ।।
मों निठुरा उर मान को सोच
छोड़ावन, सोचति यों रमनी ।
आवहिंगे कब कंठ लगावन,
पाँवन पास ह्वै ठाढ़ो धनी ।।

१२-६-५६

५८।१२३ शार्दूलविक्रीडित

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदबिन्दुप्लुतो
व्यालोलालकवल्लरीं प्रचलयन् धुन्वन् नितम्बाम्बरम्
प्रातर्वाति मधौ प्रकामविकसद्राजीवराजीरजो
जालामोदमनोहरोरतिरसग्लानिं हरन्मारुतः

वसंत ऋतु में सुन्दरियों के रमणीय चन्द्रमुख के स्वेद जल-विन्दुओं से भींगकर, उनकी चंचल केशराशि को हिलाता हुआ तथा नितम्ब के वस्त्र को

कँपाता हुआ, रति-क्रीड़ा की थकावट को हरता हुआ, भली-भाँति विकसित होते हुए कमलों की पंक्ति के पराग-समूह के गंध से मनोहर पवन बह रहा है।

कामिनि के मुख-चंद छए,
मधु-स्वेद की बूंदन सों सरस्यो करै।
लोल लटैं लहराइ चलै,
सु नितंब के अंबर कों धरष्यो करै।।
नीरज के रज सों भरिके
मधु गंध के भारन सों हरष्यो करै।
प्रात वसंत बयारि हरैं हरैं
श्रांति सबै रति की करष्यौ करै।।

११-६-५६

५६/१२४ शार्दूलविक्रीडित

अङ्गं चन्दन पाण्डु पल्लवमृदुस्ताम्बूलताम्राधरो
धारायन्त्रजलाभिषेककलुषे धौताञ्जने लोचने
अन्तः पुष्पसुगन्धिराद्र कबरी सर्वाङ्गलग्नाम्बरं
रामाणां रमणीयतां विदधति ग्रीष्मापराह्णागमे

ग्रीष्म की तिजहरिया के आने पर सुन्दरियों का चन्दन से पाण्डु अंग, पल्लव के समान मृदुल और ताम्बूल से लाल हो गया अधर फौवारे के जल के स्नान से आकुल और घुले हुए अंजन वाले नेत्र, भीतर गुंथे हुए पुष्प की सुन्दर गंध से युक्त और भींगी हुई कबरी, सम्पूर्ण शरीर में चिपका हुआ वस्त्र रमणीयता को धारण करता है।

चंदन सों मंडित (द्वौ पीन पुष्ट) पीरे अंग,
पल्लव मृदुल पान रंजित अधर लाल।
धार मैं फुहारन की घुलि कै निरंजन ह्वै
(खंजन से चपल) विलोचन बने बिसाल।।

अंग अंग लिपटो महीन सिक्त अम्बर औ
फूलन सँवारो, भारो गीलो गंधवारो बाल ।
रमनी कौ औरऊ बनावै रमनीय मिलि
ग्रीषम की भीषम तिजहरी में विकराल ।।

२०-१०-५६

६०/१२५ द्रुतविलंबित

वरमसौ दिवसो न पुनर्निशा
ननु निशैव वरं न पुनर्दिवा
उभयमेतदुपैत्वथवाक्षयं
प्रिय जनेन न यत्र समागमः

'वह दिन अच्छा है, रात नहीं ।'

'नहीं, रात ही अच्छी है, दिन नहीं ।'

'अथवा ए दोनों ही क्षय को प्राप्त होवें, जिनमें प्रिय जन से समागम न हो ।'

है दिन सुंदर, राति नहीं,
पिउ को मुख मंजुल देखि जुड़ैए ।
राति ही सुंदर है, दिन नाहिन,
सेज पै पीतम प्यारे सुलैए ।।
जा दिन रातिहि पीउ मिलैं,
दोऊ सुंदर, प्यारे, भले सुख पैए ।
जा दिन राति पिया न मिलैं,
सो असुंदर जानहु, दोउ नसैं ये ।।

११-११-५६

६१/६१ शार्दूलविक्रीडित

लोलैर्लोचनवारिभिः सशपथैः पादप्रणामैः प्रियैः
अन्यास्ता विनिवारयन्ति कृपणाः प्राणेश्वरं प्रस्थितम्
पुण्याहं व्रज मंगलं सुदिवसं प्रातः प्रयातस्य ते
यत्स्नेहोचितमीहितं प्रियतम त्वं निर्गतः श्रोष्यसि

प्रस्थान करने वाले प्राणेश्वर को जो बेचारी चंचल नेत्रों के जलों से और प्रिय तथा शपथों से युक्त पाद-प्रणामों से रोकती हैं, वे दूसरी हैं । हे प्रियतम मैं पुण्यशालिनी हूँ, जाओ, प्रातःकाल जाते समय, तुम्हारा दिन शुभ और मंगलमय हो, जो कुछ प्रेम के लिए उचित कार्य है, उसे तुम चले जाने पर सुनोगे।

लोल लोचनन वारि भरि, मीठी सौंहैं खाय,
पाँवन पै परि, रोकैं, करि मनुहारी जू ।
सो तो कोऊ और ही कृपिन अबला बिचारी,
प्रान लोभ, हाहा खाइ, गिरै हैं पछारी जू ।।
हौं तो बड़ी पुण्यवती, जाहु जू, सुमंगल हो—
प्रात को पयान तुव, रसिक विहारी जू ।
आपने सनेह हित मोकों जो उचित अहै,
करिहौं मैं सोई, सुनि लीजियो अगारी जू ।।

२४-१०-५६

६२/६२ शार्दूलविक्रीडित

लग्ना नांशुक पल्लवे भुजलता न द्वारदेशेऽर्पिता
नो वा पादतले तथा निपतितं तिष्ठेति नोक्तं वचः
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत्तः शठ—
स्तन्व्या बाष्पजलौघकल्पितनदीपूरेण रुद्ध प्रियः

जलद पंक्ति से मलिन हो गए हुए समय में जाने के लिए तैयार निर्दय प्रिय को तन्वी ने केवल आँसुओं के जल की बाढ़ से बनाई गई हुई नदी के प्रवाह से रोक लिया; न वस्त्र के अंचल में लगी, न द्वार-प्रदेश पर भुज-लता को अर्पित किया, न उसके चरण तल में गिरी और न 'रुक जाओ' इस प्रकार का वचन ही कहा।

घोर घनी घनमाल घिरी,
दिन कारो परो, सठ चाहत जान है।
पीत पटोर प्रिया न गह्यो,
नहिं द्वार पै दीन्ह्यौ भुजान-पिधान है॥
पाँवन पै भहराय गिरी नहिं,
'जाहु न कंत' कह्यो बतिया न है।
केवल अश्रु—नदी के प्रवाहन
रोक्यो तिया पिया दूरि पयान है॥

२४-१०-५६

६३/६४ अनुष्टुप

न जाने संमुखा याते
प्रियाणि वदति प्रिये
सर्वाण्यङ्गानि मे यान्ति
नेत्रतां किमु कर्णताम्

प्रिय के सम्मुख आकर बोलने पर मेरे सभी अंग नेत्रता को प्राप्त हो जाते हैं अथवा कर्णता को, यह मैं नहीं जानती।

आवत पीय जबै सखि सामुहैं,
और सुनावत प्यार की बात है।
जात है भूलि सबै सिख तो,
मन मान को पावत एक न घात है॥

वा अँग-अँग के देखन कौं,
मम अंग सबै बनि लोचन जात हैं।
कै रस बातन के सुनिबे हित,
वै सब कानन माहिं समात है॥

१२-६-५६

६४/६७ हरिणी

विरहविषमः कामो वामस्तनुं कुरुते तनुं
दिवसगणनादक्षश्चासौ व्यपेतघृणो यमः
त्वमपि वशगो मानव्याधोर्विचिन्तय नाथ हे
किसलयमृदुर्जीवेदेवं कथं प्रमदाजनः

विरह में कठोर प्रतिकूल कामदेव शरीर को क्षीण बना रहा है और यह निर्दय यमराज दिनों के गिनने में परम कुशल है और तुम भी, है नाथ, मान रूपी रोग के वश में हो गए हो, तो सोचो इस प्रकार पल्लव के समान कोमल युवती कैसे जिए ?

विरह विषम काम, बाम बनि करै छाम—
सकल सरीर, नेकु लावत न पीर है।
जीवन के दिन गनिवे में है चतुर क्रूर,
यमराज वीर नेकु होत ना अधीर है॥
मान-व्याधि सों ग्रसित तुमहू भए हो नाथ,
अबला अकथ कहौ कैसें धरै धीर है।
किसलय-दल सी मृदुल बाल है बिहाल,
कैसे कै बचै, बताओ, कोऊ तदवीर है?

२४-१०-५६

६५/६८ मन्दाक्रान्ता

पादासक्ते सुचिरमिह ते वामता कैव कान्ते
सन्मार्गस्थे प्रणयिनि जने कोपने कोऽपराधः
इत्थं तस्याः परिजनकथाकोपवेगोपशान्तौ
वाष्पोद्भेदैस्तदनु सहसा न स्थितं न प्रयातम्

प्रिय के बहुत देर तक चरणों में लगे रहने पर भी तुम्हारी यह प्रतिकूलता कैसी ! हे कोपनशीले, प्रेमीजन के सन्मार्ग में स्थित होने पर कौन सा अपराध है ? इस प्रकार उसके परिजनों की बातों से कोप के वेग की शांति हो जाने पर, उसके आँसुओं के प्रवाहों से सहसा ज तो रुका गया और न चला गया ।

पाँवन पै पर्‌यो देर लौं पीउ,
तऊ प्रतिकूलता कैसी तिहारी ?
कौन कर्‌यो अपराध, रह्यो थित
जो सनमारग पै पिय, प्यारी ?
या विधि ताहि प्रबोध्यो अली जब,
कोप को वेग थक्यौ तब भारी ।
आँसू के पूर भरे भरपूर जो,
सो न रुके, न बहे सहसा री ॥

२४-१०-५६

६६।६९ शिखरिणी

पुराभूदस्माकं नियतमविभिन्ना तनुरियं
ततो नु त्वं प्रेयान् वयमपि हताशाः प्रियतमाः
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्

पहले निश्चय ही हम दोनों का यह शरीर अभिन्न था । उसके पश्चात् तुम तो अति प्रिय रहे और मैं हताशा भी प्रियतमा रही । इस समय तुम

स्वामी हो और मैं तुम्हारी भार्या। और क्या कहा जाय, मुझसे बज्र के से कठोर प्राणों का यही फल पाया गया।

पहिलैं अविभिन्न सरीर रहे,
नहिं दोउन में कछु भेद रह्यौ है।
फेरि आप भए प्रिय, हौं हूँ प्रिया,—
हतभागिनी, यों कछु भेद पर्‌यो है॥
अब नाथ हैं आप, तिहारी कलत्र हौं,
भेद दिनैंदित जात बढ़्यौ है।
प्रान हमारे जो बज्र कठोर हैं,
ताको सबै यह लाह लह्‌यो है॥

२४-१०-५६

६७/७० शार्दूलविक्रीडित

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो ननु स मे, प्राणेश्वरः श्रोष्यति

"मुग्धे, क्यों भोलेपन से ही सारे सयय को बिताने का आरम्भ किया गया है? (अरे) मान धारण करो, धैर्य को बाँधो, अरे हे प्यारी सीधेपन को दूर करो। इस प्रकार सखी से समझाई गई हुई, डर से युक्त मुखवाली ने उसको उत्तर दिया—"धीरे से बोलो, हृदय में स्थित मेरा प्राणेश्वर कदाचित सुन लेगा।"

"काहे बितावति हो समयो सब
यों ही भुराई में भोरी लली।
मान करो, धरौ धीरज नैकु,
न पीतम सों या सिधाई भली॥

सुनतैं सखि सों बतियाँ यह मान की,
बोली डरी भय मान छली।
'धीरे से बोलहु, या उर में थित
पीय न ले सुन बात अली।''

९-९-५९

९८/१३० वसंततिलका

पीतो यतः प्रभृति कामपिपासितेन
तस्या मयाऽधररसः प्रचुरः प्रियायाः
तृष्णा ततः प्रभृति मे द्विगुणत्वमेति
लावण्यमस्ति बहु तत्र किमत्र चित्रम्

काम की पिपासा से युक्त मुझसे उस प्रिया का प्रचुर अधर-रस जबसे पिया गया है, तब से मेरी प्यास द्विगुणता को प्राप्त होती जाती है; तो इसमें विचित्रता क्या है, उस अधर में अत्यधिक लावण्य है।

काम-पिपासित ह्वै जब तें
तिय को अधरा-रस पान कर्‌यो है।
प्यास बढ़ी दुगुनी तब तें,
(बिन पीए न नैंसुक जात रह्यो है ॥
बाढ़ै घरी-घरी, मंद न होत है,
काह करौं, नहीं जात सह्यो है)।
यामें अचंभो न कोऊ अहै,
अधरान लुनाई को वास रह्यो है ॥

९-९-५९

६९।७१ वसंततिलका

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिको वसति यत्र जनः प्रियो मे
एकाकिनी वद कथं न विभेषि बाले
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः

"हे करभ की सी जाँघों वाली, गाढ़ी आधीरात में कहाँ के लिए चल पड़ी हो ?"

"जहाँ पर मेरा प्राण से भी अधिक प्रियजन रहता है।"
"बाले बताओ, तुम अकेली क्यों नहीं डरती हो ?"
"पुंख से युक्त शर वाला मदन तो मेरा साथी है।"

"या अँधियारी निसा में कहाँ
चली जाति अकेली कहौ अलबेली ?'
"जात जहाँ मम प्रानपियारो,
(लगी मिलिबे की हमैं तलाबेली) ॥
"नैसुक लागै नहीं तुमकौं डर ?
साथ सहाय न कोऊ सहेली।"
"(काहे डरौं), सँग मेरे चलै,
धनु-सायक लै के मनोभव मेली ॥"

९-९-५९

७०/७२ शार्दूलविक्रीडित

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चितकेसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः
मुग्धा कुड्मलिताननेन दधती वायुं स्थिता तस्य सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततया च वेपथुमती तेनानिशं चुम्बिता

अन्य वनिता के द्वारा निःशंक होकर दाँत से काटे गए हुए होठ वाला कोई लीला कमल के द्वारा ताड़ित होने पर किंजल्क से दूषित आँख वाले की

भाँति नेत्रों को मूंदकर खड़ा हो गया, तब वह मुग्धा भ्रमवश कुछ-कुछ खुले हुए गोलाकार मुख से वायु धारण करती हुई खड़ी हो गई, उसकी उस धूर्तता से कम्प-युक्त वह बाला उससे बार-बार चूमी गई।

काहू निधड़क वनिता के दन्त-छत देखि,
पिया रद-छद पर, मार्‌यो है कमल सों।
आँखिन में जाइ पर्‌यो कंज को पराग, मानौ—
यातें आँखैं मूंदि लीन्यौ छैल छली छल सौं।
भोली, मुँह गोल करि, फूंक मारि-मारि रही,
रजहिं निवारि ठाढ़ी, भरे नैन जल सों।
चूमि रह्यो धूर्त्त बार-बार चन्द्र-मुख चारु
कंपित कामिनी गहि कल बल छल सों॥

१४-६-५९

७१।७३ हरिणी

स्फुटतु हृदयं कामः कामं करोतु तनुं तनुं
न सखि चटुलप्रेम्णा कार्यंपुनर्दयितेन मे।
इति सरभसं मानोद्रेकादुदीर्य वचस्तया
रमणपदवी सारंगाक्ष्या निरन्तरमीक्षिता

हृदय फट जाय (तो फट जाय), कामदेव शरीर को भले ही क्षीण कर डाले, किन्तु हे सखी, चंचल प्रेम वाले प्रिय से अब मेरा कोई काम नहीं है, इस प्रकार मान की अधिकता के कारण वेग से यह वचन कहकर उस हरिणाक्षी के द्वारा रमण का मार्ग निरन्तर देखा गया।

''चाहे हिया फटि जाय सखी,
तन चाहे जितो करै छीन अनंग।
प्रेम में चंचल पीउ सौं काम न,
मोहिं कछू, नहिँ चाहत संग॥

मान के वेग में जोर सों बोली
प्रिया (पै भयौ तुरतै स्वर-भंग)।
जोहन लागी पिया-मग कौं,
मृग-लोचनी चारु पगी रस-रंग ॥

१४-११-५६

७२।७४ शार्दूलविक्रीडित

गाढाश्लेषविशीर्णचन्दनरजःपुंजप्रकर्षादियं
शय्या संप्रति कोमलांगि कठिनेत्यारोप्य मां वक्षसि
गाढौष्ठग्रहपीडनाकुलतया पादाग्रसंदंशके—
नाकृष्याम्बरमात्मनो यदुचितं धूर्तेन तत्प्रस्तुतम्

हे कोमलांगी गाढ़ आलिगन से विखरी हुई चंदन की धूल की राशि की बढ़ती के कारण यह शैया इस समय कठिन हो गई है। ऐसा कहकर मुझे छाती पर रखकर गाढ़े चुम्बन के पीड़न की आकुलता के साथ पैर के अँगूठे रूपी कँटिये से वस्त्र को खींचकर अपने लिए जो योग्य था, धूर्त के द्वारा प्रारम्भ किया यया।

"गाढ़ परिरंभण सों, चंदन हिये को छूटि
गिर्यो सेज सारी याते कड़ी, सुकुमारी है।
सोवन के जोग नाहिं कहि राखि छाती पर,
दाँतन अधर दाबि, दयो पीर भारी है ॥
पैर के अँगूठन को कटिया बनाय मंजु,
सारी खैंचि मोंहि करी निपट उधारी है।
अपने लिए जो योग्य, धूर्त पी ने सोई कियो,
(भारी अवगुनन सों भरो छैल भारी है) ॥

१४-११-५६

७३/७५ हरिणी

कथमपि कृतप्रत्यासक्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रकल्पितमश्रुतम्
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशंक्य ससंभ्रमं
विगलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं पुनः

किसी प्रकार से (पुनः) समीप आने पर और (पुनः) भूल वाला उत्तर देने पर, विरह के कारण दुबली हो गई हुई उस नायिका से, बहाने से कही हुई बनावटी बात को अनसुनी करके, असहनशीला सखी के कान में पड़ जाने की आशंका करके, आकुलता के साथ आँसू बहाती हुई, आँखों से सूने घर में फिर उच्छ्वास लिया गया।

कबौं पिया तिया सौंहैं और को लियो हो नाम,
पाइ फटकार, कहूँ दूरि रह्यो बहु काल।
काहू बिधि फेरि आयो, फेरि करी भूल सोई,
बिरहिनि सुनी अनसुनी करी ततकाल।।
कहूँ असहनसील सखी सुनि पावै नही,
सोचि-सोचि डरि-डरि बिकल भई बिहाल।
आँखिन में नीर भरि, सूने घर फिरि-फिरि,
भारी साँस लेति डरि, विरह कृसित बाल।।

१४-११-५६

७४/७६ शार्दूलविक्रीडित

आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विच्छिन्नेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुन्मीलति
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन् क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः

दृष्टि के प्रसार तक प्रिय के मार्ग को देखकर, पथिकों के तितर-बितर हो जाने पर, दिन की समाप्ति पर, अन्धकार के स्फुरित हो जाने पर, शोक के

साथ एक डग घर की ओर रखकर, दूसरे क्षण में 'वह आया न हो' इस प्रकार सोचकर, विषादयुक्ता पथिक की स्त्री के द्वारा ग्रीवा को पूरा मोड़कर पुनः देखा गया ।

देखत-देखत बीति गयो दिन,
बाढ़न लाग्यो दिसान अँधेरो ।
पंथिन तें पथ हीन भयो,
गई दीठि जहाँ लौं, लख्यौ बहुतेरो ।।
आवत देखि न आपनो पीतम,
सोक-सनी घर को डग फेर्‌यो ।
'आए न होइँ वे' सोचि तुरंतहि,
मोरि गरो, फिरि, ता दिसि हेर्‌यो ।।

१४-११-५६

७५।७७ शार्दूलविक्रीडित

आयाते दयिते मनोरथशतैर्नीत्वा कथंचिद्दिनं
वैदग्ध्यापगमाज्जडे परिजने दीर्घां कथां कुर्वति
दृष्टास्मीत्यभिधाय सत्वरतरं व्याधूय चीनांशुकं
तन्व्यङ्गया रतिकातरेण मनसा नीतः प्रदीपः शमम्

प्रिय के आने पर, दिन को किसी-किसी प्रकार सैकड़ों मनोरथों के साथ बिताकर, वैदग्धशून्यता के कारण मूढ़ परिजनों के लम्बी कथा कहने पर, 'मैं (किसी जंतु से) काट ली गई हूँ,' ऐसा कहकर बड़ी शीघ्रता से रेशमी वस्त्र को हिलाकर उस तन्वंगी के द्वारा रति-कातर चित्त से दीपक बुझा दिया गया ।

आयो पिया परदेस सौं, द्यौसहि
कै कै मनोरथ कैंहूँ बितायो ।
सेवक सेवकिनी सब मूढ़,
जु लाँबी कथान को जाल विछायो ।।

'काटि लियो मोहिँ काहू कुजंतु नैं',
यों कहि आँचर नैकु हिलायो ।
या विधि सों रति-कातर चित्त सों,
वा तरुनी घर दीप बढ़ायौ ।।

१४-११-५६

७६/८० शिखरिणी

अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वया मुग्धे मानः विनमिति सरले प्रेयसि कृतः
समाकृष्टा ह्येते प्रलयदहनोद्भासुरशिखाः
स्वहस्तेनाङ्गारास्तदलमधुनारण्यरुदितैः

हे सरले, मुग्धे, प्रेयसि ! प्रेम के परिणाम का विचार न करके, मित्रों का अनादर करके, तुमसे मान क्यों किया गया ? ए तो प्रलय की अग्नि के सदृश चमकीली शिखा वाले अंगार ही तुमसे अपने ही हाथों से खींच लिए गए हैं, तो अब अरण्य-रोदन मत करो ।

प्रेम को का परिणाम न सोच्यो,
सखीजन हूँ को न आदर कीन्यो ।
बावरी, ह्वै कै सयान इती,
कह मान कियो, न भलो बुरो चीन्हयो ।।
आपने हाथन खैंचि अँगार जो,
कै निज पाँयन के तर लीन्यो ।
तो अब काहे कों रोवति हौ ?
फल ठीक मनोभव देव जू दीन्यो ।।

१४-११-५६

७७।८२ शार्दूलविक्रीडित

शून्यं वासगृहं बिलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्र्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुंव्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता

घर को सूना देखकर, बिछौने से कुछ उठकर, धीरे से नींद का बहाना किए हुए पति के मुख को वड़ी देर तक निहार कर, वेखटके होके चूमकर, उसके कपोल प्रदेश को रोमांच से युक्त देखकर, लज्जा के कारण झुके हुए मुखवाली बाला हँसते हुए प्रिय से देर तक चूमी गई ।

सूनो घर देखि, रंच सेज से मयंकमुखी,
उठि, बड़ी बेर लौं, निहार्‌यो कियो पिया-मुख ।
सोयो जानि गाढ़ी नींद, ह्वै कै निर्हचित चित,
चूमि लयो ताहि मन माँहि पाइ रति-सुख ।।
चूमत ही पीय के कपोल रोम-रोम उठे,
देखिकै लजाय गई, करि लयो नीचे रुख ।
नींद को बहानो छाँड़ि, हँसि रस-रंग माँड़ि,
बार-बार बड़ी बेर चूम्यो प्रिया, (गयो दुख) ।।

१४-११-५६

७८।८४ शार्दूलविक्रीडित

जाता नोत्कलिका, स्तनौ न लुलितौ, गात्रं न रोमाञ्चितं
वक्त्रं स्वेदकणाञ्चितं न सहसा यावच्छठेनामुना
दृष्टेनैवमनो हृतं धृतिमुषा प्राणेश्वरेणाद्य मे
तत्केनापि निरूप्यमाननिपुणो मानः समाधीयताम्

न तो उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, न स्तन कंपित हुए, न शरीर रोमांचित हुआ, न मुख स्वेद-कणों से युक्त हुआ, तब तक मात्र देखे गए हुए धैर्य को

चुराने वाले, इस शठ प्राणेश्वर से, इस समय मेरा मन हर लिया गया है। तो किस उपाय से भली-भाँति समझाया गया हुआ मान धारण किया जाय ?

मन उतकंठा नाहिं, स्तन न प्रकंपित भे,
रोम-रोम पुलकित भए ना शरीर के।
भाल पर छाई नहीं स्वेद-कनी रंचकऊ,
(सर नहीं एकौ चले पंचसर वीर के) ॥

मेरो मन हरि गयो, एते मान देखत ही,
प्रानधन प्यारे सों हरन उर धीर के।
फेरि केहि भाँति, भली-भाँति समझायो गयो-
मान धारौं, मन या अचंचल कै, धीर धै ॥

१४-११-५६

७६/८५ शार्दूलविक्रीडित

दृष्टः कातरनेत्रया चिरतरं बध्वाञ्जलिं याचितः
पश्चादंशुकपल्लवेन विधृतो निर्व्याजमालिंगितः
इत्याक्षिप्य यदा समस्तमघृणो गन्तुं प्रवृत्तः शठः
पूर्वं प्राणपरिग्रहो दयितया मुक्तस्ततो वल्लभः

बहुत देर तक उस कातर नेत्रवाली से देखा गया, अंजली बाँधकर वह याचना किया गया, बाद में वस्त्रांजल से पकड़ा गया, कपट रहित होकर आलिंगित किया गया, इस प्रकार के सभी व्यापारों को तिरस्कृत करके वह निर्दय शठ जब जाने लगा, तब दयिता के द्वारा पहले प्राणों का धारण करना छोड़ा गया, तदनंतर प्रिय छोड़ा गया।

कातर नैनन देख्यो बिलंब लौं,
फेरि करी बिनती कर जोरी।
फेरि पटोर को छोर धर्‌यौ,
पुनि गाढ़ अलिंगन में गह्यो गोरी ॥

एकऊ मानी नहीं सठ नैं,
हठि जान चह्यौ सब सौं मुँह मोरी ।
प्रानन छोड़ि दयो दयिता—
पहिलैं, पुनि प्रान के वल्लभ कों री ।।

१४-११-५८

८०/५ शार्दूलविक्रीडित

अङ्गुल्यग्रनखेन बाष्पसलिलं निक्षिप्य निक्षिप्य किं
तूष्णीं रोदिषि कोपने बहुतरं फूत्कृत्य रोदिष्यसि ।
यस्यास्ते पिशुनोपदेशवचनैर्मानेऽतिभूमिं गते
निर्विण्णाऽनुनयं प्रति प्रियतमो मध्यस्थतामेष्यति

हे कोपनशीले, अंगुलि के नखाग्र से आँसू के जल को हटा-हटाकर क्यों चुपचाप रो रही हो, तुम दुखी होकर फुक्का फाडकर बहुत रोओगी, जब चुगुलों के उपदेश-बचनों से तुम्हारे मान के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर तुम्हारा प्रियतम अनुनय के विषय में उदासीनता को प्राप्त हो जायगा ।

अँगुरी-नख-अग्र सों पोंछि के आँसुनि,
क्यों चुप रोवति, कोपनसीले ।
दुष्टन के उपदेस कों मानि,
कबौं करिहै गुरु मान हठीले ।।
केतो मनाइहै पीउ, न मानिहै,
जैहै विरक्त ह्वै, मानि सही ले ।
फूटि के रोइहै ता समयो,
(अबै नाहक नैन करै जनि गीले) ।।

१४-११-५८

८१/११ शार्दूलविक्रीडित

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयोः
तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रं निरुद्धे मया
पाणिभ्यां च तिरस्कृत सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कंचुके संधयः

उसके मुख के सामने मुझसे मुख नीचा कर लिया गया, दृष्टि चरणों में कर दी गई, उसकी बातचीत के प्रति कुतूहल से अति आकुल कान भी बन्द कर दिए गए, कपोलों पर रोमांच से युक्त पसीना दोनों हाथों से ढक लिया गया, किन्तु हे सखियो, क्या करूँ मैं, जो कंचुकी के जोड़ सैकड़ों टुकड़े हो रहे हैं।

नीचे कियो मुख आवत ही—
पिय के, नख ओर निगाह ठयो।
पीय के बैनन के सुनिबे हित
आकुल कानन मूँदि लयो॥
कीन्ह्यो तिरस्कृत हाथन सों
पुलकावलि स्वेद कपोल छयो।
आँगी की सीवनि टूटे तऊ
सत बार, अली कहौ काह भयो॥

८-९-५९

८२/१४ शिखरिणी

कृतो दूरादेव स्मितमधुरमभ्युद्गमविधिः
शिरस्याज्ञा न्यस्ता प्रतिवचनमुच्चैः प्रणमितम्
न दृष्टेः शैथिल्यं मिलन इति चेतो दहति मे
निगूढान्तः कोपा कठिनहृदये संवृतिरियम्

दूर से ही मुसकुराहट से मधु अभ्युत्थान की विधि संभव की गई। आज्ञा सिर पर रख ली गई। उत्तर ऊँचे स्वर में झुककर दिया गया। मिलने में दृष्टि की शिथिलता भी नहीं हुई। इसलिए हे कठिन हृदये, भीतर कोप को छिपाए हुए, तुम्हारी यह आकार-गुप्ति मेरे चित्त को जलाती हैं।

दूरि ही सौं, मुसकाय सबै विधि
स्वागत की, तुमनै प्रतिपाली।
जो कछू आज्ञा दई सो धरी सिर,
ठाढ़ी रहीं नत-ग्रीव निराली ॥
ऊतरऊ दयो, नैन मिलावन
हू मैं न चूकीं, कड़े उर वाली।
कोप छिपाय रही उर मैं,
यह गोपन दाहत मो मन आली ॥

१४-११-५६

८३।३२ शार्दूलविक्रीडित

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यः कोपपराङ्मुखं शयितया चाटूनि कुर्वन्नपि
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णींस्थितस्तत्क्षणा-
न्माधूत्सुप्त इवैष मन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः

एक ही सेज पर विरुद्ध स्त्री का नाम लेने पर, शीघ्र ही कोप से विमुख होकर सोई हुई उस मुग्धा से, चापलुसी करता हुआ भी, आवेग के कारण तिरस्कृत किया गया हुआ, प्रियतम चुप हो गया। उसी क्षण 'यह सो न गया हो' (ऐसा सोचकर) धीरे से गर्दन को मोड़कर वह फिर देखा गया।

एक ही सेज पै सोए दोऊ,
कहूँ धोखे लयो पिय और ती नाम है।
लेटि गई. मुँह फेरि, दै पीठि कौं,
नेकु सुन्यो न, छयो तन ताम है ॥

कोपि कियो अपमान, पिया-
चुप साधि रह्यो, लखि वाम कों बाम है।
जाइ न सोइ, यों सोचि तिया,
गर मोरि ततच्छन ताक्यो ललाम है।।

८-९-५९

८४।३२ हरिणी

मलयमरुतां व्राता वाता विकासितमल्लिका
परिमलभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि
घन घटयितुं तं निःस्नेहं य एव निवर्तने
प्रभवति गवां किं नश्छिन्नं स एव धनञ्जयः

मलय पवनों के समूह बह चुके, विकसित की गई हुई मल्लिका के परिमल के भार से युक्त ग्रीष्म भी भग्न हो चुका; हे घन, तुम यदि उस स्नेह रहित को उपस्थित करने का उत्साह करते हो, तो हमारा क्या बिगड़ा। जो ही गायों को लौटाने में समर्थ हो, वही धनंजय है।

आयो न कंत, बह्यो मलयानिल,
हारि थक्यो ऋतुराज बिचारो।
मल्लिका-मंजुल-गंध भरो,
इहि ग्रीषमहू को चल्यो नहिँ चारो।।
हे घन, तो सों जो होय सकै,
तौ उपाय के लावहु निष्ठुर प्यारो।
गो-धन फेरि जो लाइ सकै,
है धनंजय स्वै, बिगरी का हमारो।।

८-९-५९

८५ । ५५ शार्दूलविक्रीडित

स्वं दृष्ट्वा करजक्षतं मधुमदक्षीबा विचार्य्येर्षया
गच्छन्तो क्व नु गच्छसीति विधृता बाला पटान्ते मया
प्रत्यावृत्तमुखी सवाष्पनयना मां मुंच मुंचेति सा
कोपात्प्रस्फुरिताधरा यदवदत्तत्केन विस्मर्यते

मदिरा के मद से मतवाली बाला (मेरे वक्ष पर) अपने नखक्षत को 'देखकर ईर्ष्या के कारण विना विचारे ही चलती हुई', 'कहां जा रही हो ?' ऐसा कहकर मुझसे अंचल से पकड़ी गई। मुख फेरकर आँसू से भरे नेत्रों से युक्त होकर 'मुझे छोड़ो, छोड़ो, इस प्रकार कोप के कारण फड़कते हुए होठों वाली उसने जो कुछ कहा, वह किससे भूला जा सकता है।

मेरे उर माँहि लखि अपनेई नखछत,
मधु के नसे में मत्त, मान्यौ काहू और को।
डाह सों, बिचारे बिना, रूठि, उठि चली हठि,
'कहाँ जात', कहि धर्‌यो हँसि पट छोर को॥
फेरि मुँह, नैन भरि, फरकत अधरनि,
कह्यो, 'छोड़ो, हटौ, इहाँ काम न छिछोर को'।
भूलत भुलाएँ नाहि बातैं पै कटाछ-मई,
मन गहि रह्यौ उहि त्योर की मरोर को॥

१४-११-५६

८६।१२८ वसंततिलका

सालक्तकं शतदलाधिककान्तिरम्यं
रत्नौघधामनिकरारुणनूपुरं च
क्षिप्तं भृशं कुपितया तरलोत्पलाक्ष्या
सौभाग्यचिह्नमिव मूर्ध्नि पदं विरेजे

महावर से युक्त, कमल से भी अधिक शोभा के कारण रम्य, रत्नों के समूह में तेज की राशि से लाल हो गए नूपुर से युक्त चरण, अति कुपित हो गई हुई चंचल कमल के से नेत्रों वाली उससे, चलाया गया। वह सिर पर सौभाग्य के चिह्न की भाँति सुशोभित हुआ।

सुंदर जो सरसीरुह सोन सों,
हैं अधिकै, हैं महावर भीने।
कांति-मरीचिन-वारी-मनीन सों
जो जड़े नूपुर धारे नवीने ॥
कोपि कै कंज-दृगी ने सोई पद
पीतम सीस चलाइ है दीने।
सोभित सो तहँ भागि के चीन्ह से,
(पीउ ने सादर हैं हँसि लीने) ॥

१०-६-५१

८७।८१ शिखरिणी

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदित
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्

कपोल पर की गई हुई पत्र-रचना, हथेली के निरोध से मिट गई; निःश्वासों के द्वारा यह अमृत के समान मन को अच्छा लगने वाला अधर-रस पी लिया गया; बार-बार गले से लगा हुआ आँसू स्तन-तट को चंचल कर रहा है; हे अनुरोध को न मानने वाली, क्रोध तुम्हारा प्रिय हो गया है, हम नहीं।

पाइकै घसनि करतल की तिहारे, मंजु-
रचित कपोलन की गिरी पत्र-रचना।
मन को मधुर यह अमृत अधर-रस,
गयो है उसासन सों पियो, रह्यो रस ना ॥

बार-बार गले लगि, आँसू परि उरोजन,
देत थरकाय है कँपाय, चलै बस ना।
अनुनय बिनय हमारी नहीं नेकु सुनौ,
क्रोध है पियारो तव, हम नहीं, बस ना ?

१४-११-५६

८८।९० शार्दूलविक्रीडित

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोदयः
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः

चारों ओर से ललाटपट्ट लाख के चिह्न से युक्त है, गले में केयूर का चिह्न है, मुख पर काजल की कालिमा है, नेत्रों में ताम्बूल की ललाई का उदय है, इस प्रकार प्रातःकाल, प्रिय के कोप को उत्पन्न करने वाली इस भूषा को देखकर, हरिणक्षी के श्वास लीला-कमल के कोश में समाप्ति को प्राप्त हो गये।

भाल पै राजत खौर महावर,
कंठ विराजत बाजू सुहाई।
होठन काजर-भ्राजत औ,
अँखियान विलोल तमोल ललाई॥
देखि प्रभात पिया को सुरूप,
प्रिया अँखियान छई अरुनाई।
सूँघत ही कर-कंज के, साँस—
सबै छिन मैं कर-कंज समाई॥

१४-११-५६

८८।८६ वसंततिलका

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः
रथ्यालिवीक्षणनिवेशित लोल दृष्टे-
र्नूनं छनच्छनिति बाष्पकणाः पतन्ति

मार्ग की रेखा के देखने में लगाई गई हुई चंचल दृष्टि वाली, दीर्घ-विरह की आग की शिखाओं से तप्त हो गये हुए कुछ-कुछ पीले स्तनप्रांत से युक्त, प्रिया के वक्ष पर, निश्चय ही आँसू की बूँदें छनछनाती हुई पड़ रही हैं।

पीउ को मारग ताकति दीन ह्वै,
ठाढ़ी गली के सिरे, अभिलाषन।
बेर बड़ी भई, कोऊ लखायो न,
काँपि कराहि उठी तिय ता खन।।
पीय - महा - विरहागि - सिखा-
-तपे गोरी के नैनन ते अँसुवा-कन।
पीरे परे स्तन-मंडल-वारे,
हिया पै गिरे छनैछन्न छनाछन।।

१२-६-५६

६०।८७ शार्दूलविक्रीडित

चिन्तामोहविनिश्चलेन मनसा मौनेन पादानतः
प्रत्याख्यानपराङ्मुखः प्रियतमो गन्तुं प्रवृत्तोऽधुना
सव्रीडरलसैर्निरन्तरलुठद्बाष्पाकुलैर्लोचनैः
श्वासोत्कम्पकुचं निरीक्ष्य सुचिरं जीवाशया वारितः

चिन्ता तथा मोह के कारण जड़ीभूत चित्त से चुपचाप चरणों में झुका हुआ, तिरस्कार के कारण विमुख हो गया हुआ, प्रियतम जाने के लिए

तैयार हुआ, तो इस समय लज्जा से युक्त अलसाये हुए निरन्तर निकलने वाले आँसुओं से आकुल लोचनों से श्वासजनित उत्कम्प से युक्त कुच वाली होकर. बहुत देर तक देखकर, जीवन की आशा से उस नायिका के द्वारा (वह प्रियतम) रोक लिया गया।

चिंता घोर मोह सों विकल अति कातर ह्वै,
पिया मौन पर्यो प्रिया-पद-पदुमन मैं।
पाइ झिड़कीन ह्वै विमुख चल्यो चाह्यौ जब,
बाल अति आकुल भई है तब मन मैं॥

सरमाने, अलसाने, अँसुआने नैनन सों,
बालमै बिलोक्यो बड़ी बेर उलझन मैं।
धक धक छतिया में, जीवन की आस धरि,
तिया रोकि राख्यो पिया आपनो, सदन मैं॥

१४-११-५९

९१।९६ शार्दूलविक्रीडित

तन्वङ्ग्या गुरुसन्निधौ नयनजं यद्वारि संस्तम्भित
तेनान्तर्गलितेन मन्मथशिखी सिक्तो वियोगोद्भवः
मन्ये तस्य निरस्यमानकिरणस्यैषा मुखेनोद्गता
श्वासामोदसमाकुलालिनिकरव्याजेन धूमावलिः

तन्वंगी के द्वारा गुरुजन के निकट नेत्र से उत्पन्न जल जो रोक लिया गया, भीतर बसे हुए उस आँसू से वियोग से उत्पन्न कामाग्नि भिगो दी गई, तो मैं समझता हूँ कि निकलती हुई किरणों से युक्त उस (आग) की श्वास की सुगंध से आकुल भौरों के भीर के बहाने से मुख से निकली हुई यह धूमावली है।

बल कै, अँखियाँ ढलके अँसुवा,
तिय रोकि रख्यौ समुहें गुरुलोगन।
सो रसि भीतर, दीन्हो भिगोय,
जगी बिरहागि लगी सब अंगन॥

काम की आगि गई फुंकि औ,
मुँह सों निकस्यो धुआँ धारे तरंगन।
श्वास सुगंध सों व्याकुल भौंर की,
भीर चली मँडराय उतै मनु॥

सुघवै

(दशहरा २०१६) ११-१०-५९

९२।९७ शार्दूलविक्रीडित

भ्रूभेदो रचितश्चिरं नयनयोरभ्यस्तमामीलनं
रोद्धं शिक्षितमादरेण हसितं मौनेऽभियोगः कृतः
धैर्यं कर्तुमपि स्थिरीकृतमिदं चेतः कथञ्चिन्मया
बद्धो मानपरिग्रहे परिकरः सिद्धिस्तु दैवे स्थिता

भौंहों का चढ़ाना बहुत समय तक रचा गया; आँखों के मूँदने का अभ्यास किया गया, प्रयत्न के साथ हँसी को रोकना सीखा गया, मौन रहने का भी अभ्यास किया गया, धैर्य धारण करने के लिए यह चित्त भी किसी तरह स्थिर किया गया, (इस प्रकार) मान के ग्रहण करने के निमित्त मुझसे कमर कसी गई, सिद्धि तो दैव के अधीन स्थित है।

बहु बेर लौ भौंहें चढ़ैबो सिख्यो,
अँखियाँ बड़ी वेर लौं बन्द कर्‌यो।
बल कै अधरान की रोकी हँसी,
करि जत्न घने मुँह मौन ठयो॥
अलि धीरज धारिबे कौं थिरता
केहूँ भाँति अधीर चितै है दयो।
गुरु मान की सारी तयारी करी,
जय लाभ तो दैव अधीन रह्यो॥

७-९-५९

६३।६६ शार्दूलविक्रीडित

देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि
उद्ग्रीवश्चरणार्द्धरुद्धवसुधः कृत्वाश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपिध्यायन्मुहुर्वीक्षते

सैकड़ों देशों, नदियों, पहाड़ों और वनों से अन्तरित की गई हुई कांता यत्न करने पर भी दृष्टि-पथ पर नहीं आएगी, यह जानता हुआ भी फिर भी पथिक गर्दन उठाकर, आधे चरण से पृथ्वी पर खड़ा होकर, आँखों को आँसू से भरकर, किसी बात का ध्यान करता हुआ, उसी दिशा की ओर बार-बार देख रहा है।

जानत, है वन देस को अंतर,
सौ नद नार पहार को अंतर।
लोचन-पंथ न ऐहै प्रिया,
बहु कीने उपायऊ जंतर मंतर।
ग्रीव उँचाय तऊ खरो पंजन
के बल, पोंछि के आँसु निरन्तर।
काहू के ध्यान पगो, तकिबो करै-
ता दिसि, है जनु कीलित मंतर॥

८-६-५६

६४।१३३ वसंततिलका

कोपस्त्वया हृदि कृतो यदि पङ्कजाक्षि
सोऽस्तु प्रियस्तव किमत्र विधेयमन्यत्
आश्लेषमर्पय मदर्पितपूर्वमुच्चै-
र्मह्यं समर्पय मदर्पितचुम्बनं च

हे कमलनयनी, यदि तुमसे हृदय में कोप किया गया है, तो वह तुम्हारा प्रिय रहे; इस विषय में अब दूसरा क्या करना है; मेरे पहले के अर्पित किए गये हुए गाढ़ालिंगन को मुझे लौटा दो और मेरे द्वारा अर्पित किया गया हुआ चुम्बन भी।

कंज-विलोचने, कोप जु है—
उर माँहि, सो राखियो ताहि अनंदन।
है करनो अब और कहा तोहि,
बोलौ सबै तजि कै छल-छंदन।।

जो पहिलैं तुम्हैं गाढ़ो दयो,
अब फेरो मया कै सबै परिरंभन।
राखहु आपने पास नहीं,
करौ वापस मेरे सबै मधु-चुंबन।।

७-६-५६

६५।१३७ वसंततिलका

ऊरुद्वयं मृगदृशः कदलस्य काण्डौ
मध्यं च वेदिरतुलं स्तनयुग्ममस्याः
लावण्यवारिपरिपूरितशातकुम्भ-
कुम्भौ मनोजनृपतेरभिषेचनाय।।

इस हरिणाक्षी की दोनों जाँघें केले की बनी हैं; कमर वेदी है और राजा कामदेव के अभिषेक के निमित्त इसके दोनों अनुरूप स्तन लावण्य के जल से परिपूरित सुवर्ण-कुंभ हैं।

मृगनैनी के मंजुल जंघ दोऊ,
कदली पत-हीन से कैसे ठए।
मध्य है बेदिका सो सुठि राजत,
(नूपुर बाजत मंत्र जये)।।

पूरित पानिप से कुच द्वै,
जनु हेम के कुंभ हैं सोभ रए।
मानौं मनोज महीपति कै
अभिषेक के साज सजे हैं नए।।

७-६-५६

६६।५६ हरिणी

चपलहृदये किं स्वातन्त्र्यात्तथागृहमागत-
श्चरणपतितः प्रेमार्द्रार्द्रः प्रियः समुपेक्षितः
तदिदमधुना यावज्जीवं निरस्तसुखोदया
रुदितशरणा दुर्जातानां सहस्व रुषां फलम्

हे चपल हृदये, स्वेच्छापूर्वक इस प्रकार घर पर आया हुआ, चरणों पर गिरा हुआ, प्रेम से भीगा हुआ, प्रिय क्यों उपेक्षित किया गया ? इसलिए अब जीवनपर्यंन्त सुख के उद्यम से रहित होकर, रुदन-मात्र-शरण वाली होकर, अपने दुष्ट क्रोध का यह फल सहो।

अपनेई से आयो पिया घर कौं,
बनि प्रेम सों आर्द्र पर्‌यो पग पै रे।
चंचले तेरो कठोर हियो,
नहिँ बोली कछू, न हँसी तन हेरे।।
जात रह्यौ सुख जीवन कौ सब,
रोदन ही रह्यौ भागि में तेरे।
दुष्ट या रोष है, ताकौ सहौ फल,
क्यों न उठावौ ये दुःख घनेरे।।

काशी

१८-१०-५६

९७।५५ शार्दूलविक्रीडित

रात्रौ वारिभरालसाम्बुदरवोद्विग्नेन जाताश्रुणा
पान्थेनात्मवियोगदुःखपिशुनं गीतं तथोत्कंठया
आस्तां जीवितहारिणः प्रवसनालापस्य संकीर्तनं
मानस्यापि जलाञ्जलिः सरभसं लोकेन दत्तो यथा

रात्रि में जल के भार से अलक्ष्य बादल के रव से उद्विग्न हो गये हुए, आँसू से युक्त हो गये हुए, पथिक से आत्म-वियोग के दुःख का सूचक गीत इस प्रकार उत्कण्ठा के साथ गाया गया कि जीवन को हरण कर लेने बाले प्रवास की बात की तो चर्चा ही दूर रहे, मान तक के लिए भी वेग के साथ लोगों के द्वारा जलांजलि दे दी गई।

वारि के भार भरे बदरा-
धुनि कौ सुनि कै पथी है अकुलायो।
आँखिन मैं अँसुवा भरि कै
उतकंठ वियोग के गीतहिं गायो।।
सो सुनि लोगनि मान दयो तजि
बेगहिं पीय प्रिया गर लायो।
प्रान प्रनासी प्रवास की बात
तौ दूरि रही, चरचा न चलायो।।

२०-१०-५९

९८।१३४ वसंततिलका

हारो जलार्द्रवसनं नलनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः

हार, जल से गीला वसन, पुरइन के पत्ते, हिम विन्दुओं को बरसाने वाली चन्द्रमा की किरणें, सरस चन्दन जिसके ईंधन हैं, वह काम की अग्नि किस प्रकार शान्ति को प्राप्त होगी।

फूलन हार हैं, सिक्त सुवास हैं,
हैं जलजात के पातन के बन।
हैं हिम के कन, मंजु हिमांशु की,
सीतल सुभ्र मरीचिन के गन॥
हैं घन, हैं घनसार घने,
नव केसर, कुंकुम सीतल चंदन।
काम की आगि बुझे कहिए किमि,
जाके जराइबे कों अस ईंधन॥

१२-६-५६

६६।१३५ वसंततिलका

तन्वी शरस्त्रिपथगा पुलिने कपोलो
लोले दृशौ रुचिरचञ्चलखंजरीटौ
तद्बन्धनाय सुचिरार्पितसुभ्रु चाप-
चाण्डाल पाशयुगलाविवशून्यकर्णौ

तन्वी शरत्काल की गंगा है; उसके दोनों कपोल दो किनारे हैं, चंचल नेत्र सुन्दर चंचल खंजरीट हैं, उनके बाँधने के लिए बहुत दिनों से अर्पित सुन्दर भौंह रूपी चाप वाले चाण्डाल के दो फंदों की तरह दोनों खाली कान हैं।

तरुनी शरदर्तु की देवधुनी,
जुग गोल कपोल लसे हैं किनारे।
अंजन रंजित लोचन लोल हैं,
खंजन द्वै मनरंजन भारे॥

बेधन कौं धनु तानत भौंह को,
पापी अनंग बहेलिया हा रे।
बाँधन कौ इनकौ हनिकै,
लखौ कान के पास है पास पसारे ।।

७-६-५६

१००।१३८ अनुष्टुप

हारो यं हरिणाक्षीणां
लुठति स्तनमण्डले
मुक्तानामप्यवस्थेयं
के वयं स्मरकिंकराः

यह हार (मोतियों का हार, हरि के भक्त) भी हरिणाक्षियों के स्तनमण्डल पर लोटता है, जब मुक्तों (मोतियों, जीवन्मुक्तों) की यह अवस्था है, तब काम के दास हम लोग कौन हैं ?

गोरे, गरूरी, भरे, उभरे कुच
अंबर में विलसें दुरि कै।
लोटत हार हिये हिरनाछि कै,
वा स्तन-मंडल पै लुरिकै ।।
मुक्तन की है दसा जब या,
रस लेत रसे-रसे यों ढुरि कै।
काम के किंकर हैं हम तौ
रस लेहिँ न क्यों फेरि यों घुरि कै ।।

७-६-५६

।। इति भाषा टीका एवं पदचानुवाद सहित अमरुक शतक समाप्त ।।

परिशिष्ट—१

(प्रथम श्लोक संख्या ऋषीश्वरनाथ भट्ट एवं द्वितीय कमलेशदत्त संस्करण की है।)

१०१।४२ शार्दूलविक्रीडित

नापेतोऽनुनयेन यः प्रियसुहृद्वाक्यैर्न यः संहृतो।
यो दीर्घं दिवसं विषह्य विषमं यत्नात्कथंचिद्धृतः।।
अन्योऽन्यस्य हृते मुखे निहितयोस्तिर्यक्कथंचिदृशोः।
स द्वाभ्यामतिविस्मृतव्यतिकरो मानो विहस्योज्झितः।।

जो अनुनय से नहीं गया, जो प्रिय सुहृदों के वाक्यों से (समझाने से) नहीं गया, जो विरह के विषम एवं दीर्घ दिवसों को कठिनता से भी सहकर, किसी-न-किसी तरह बना ही रहा, जिसने उनके परस्पर लगाव को भी भुला दिया था, एक दूसरे के मुखड़े पर यकायक एक दूसरे की तिर्यक दृष्टि के पड़ते ही वही मान मुसकुराता हुआ न जाने कैसे स्वतः चला गया।

पिय के बिनतीहू किए न गयो, जो गयो न सखीनहू के समुझाए
सहि दीरघ द्यौस कठोर महा, जो गयो न वियोग के ताप तपाए
सब नेह भुलाइ, दियो बिलगाइ, परस्पर जो रहे गाल फुलाए
तिरछी अँखियाँ परतै मुँह पै, सोइ मान भज्यो, मुरि द्वौ मुसकाए

१०-२-६४

१०२/६३ शार्दूलविक्रीडित

आस्तां विश्वसनं सखीषु विदिताभिप्रायसारे जने।
तत्राप्यर्पयितुं दृशं सुरचितां शक्नोमि न व्रीडया॥
लोकोऽप्येष परोपहासचतुरः सूक्ष्मेङ्गितज्ञोऽप्यलं।
मातः कं शरणं व्रजामि, हृदये जीर्णोऽनुरागानलः॥

सखियों पर क्या और कैसे विश्वास करूँ? प्रिय मेरे अभिप्राय से स्वयं परिचित हैं, अतः लज्जा के मारे स्वयं जाकर मैं उनसे आँख से आँख नहीं मिला सकती। अन्य लोग पर-उपहास-चतुर हैं और सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेत समझ लेने में कुशल हैं। हे माई, अब मैं किसकी शरण में जाऊँ। हृदय में अनुराग-अनल अब पूर्ण परिपक्व हो गया है।

कैसे करौं बिसवास सखीन को, साजन पै खुद कैसेक जाऊँ?
वो मन की सब जानत हैं, फिर कैसेक आँखिनि आँखि मिलाऊँ?
लोग सबै चतुरै बहुतै, उपहास करैं, लखैं भेद अगाऊ
राग के रंग रँग्यो उर या, अब माई री मैं केहिके ढिग जाऊँ?

१४-२-६४

१०३/७८ शार्दूलविक्रीडित

आलम्व्याङ्गणवाटिकापरिसरे चूतद्रुमे मञ्जरीं।
सर्पत्सान्द्रपरागलम्पटरटद्भृङ्गांगनाशोभिनीम्॥
मन्ये स्वां तनुमुत्तरीयशकलेनाच्छाद्य बाला स्फुर।
त्कंठध्वाननिरोधकंपितकुचश्वासोद्गमा रोदिति॥

आँगन की वाटिका के परिसर में, चूत-द्रुम की गंध की लोलुप भ्रमरियों के गुंजन से सुशोभित आम्र-मंजरी का अवलम्बन करके, अपने तन को उत्तरीय के एक भाग से ढके हुए, अपनी कंठ-ध्वनि को वाहर निकलने से रोकते हुए

(सिसकते हुएं); उंठते उच्छ्वासों से अपने उरोजों को कँपाती हुई, वह बाला रो रही है।

आँगन की बगिया में लगे, सहकार के सौरभ से मद-माती
गूंज रही मधुरी भ्रमरी धुनि, आम की मंजरी पै मँडराती
ताहि तले वा वियोगिनी आय, दुकूल से अंग-प्रत्यंग छिपाती
कामिनिया सिसकै, न फुटै धुनि, साँसन ही कुच-कंज कँपाती

१४-२-६४

१०४/८३ शार्दूलविक्रीडित

लोलद्भ्रूलतया विपक्षदिगुपन्यासेऽवधूतं शिर-।
स्तद्वृत्तान्तनिरीक्षणे कृतनमस्कारो विलक्षः स्थितः ।।
कोपात्ताम्रकपोलभित्तिनि मुखे दृष्ट्यागतः पादयो-।
रुत्सृष्टो गुरुसंनिधावपि विधिर्द्वाभ्यां न कालोचितः ।।

परकीया प्रिया के पास से प्रिय को लौटा हुआ देखकर, गुरु-जनों के बीच बैठी नायिका ने, अपनी लोल भ्रू-लताओं को नचाकर, परकीया-दिशा की ओर दिखाकर सिर हिलाया। इस पर नायक ने नायिका को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और मूढ़-सा वहीं खड़ा रह गया। कोप से नायिका के कपोल ताम्र-वर्ण हो गए। उसके तमतमाए लाल मुँह को देखकर नायक ने अपनी दृष्टि नायिका के चरणों पर डाल दी (और क्षमा-याचना की)।

गुरुजनों के नैकट्य में भी दोनों ने कालोचित मर्यादा का निर्वाह किया और संकेतों में ही अपने-अपने मनोभाव व्यक्त कर दिए।

बैठी तिया गुरु लोगनि मैं, पिउ और पियारी के पास तें आयो
सो लखि मूंड़ हलाइ, नचाइ के भौंह, परोसिनि ओर लखायो
जोरि पिया कर ठाढ़ो रह्यो, तिया लाल भई, पिया सीस झुकायो
दोउन ने मरजाद बचाइ, यों आपने भावन को दरसायो

१४-२-६४

१०५/८८ शार्दूलविक्रीडित

म्लानं पाण्डु कृशं वियोगविधुरं लम्बालकं सालसं ।
भूयस्तत्क्षणजातकान्तिरभसप्राप्ते मयि प्रोषिते ।।
साटोपं रतिकेलिकालसरसं रम्यं किमप्यादरा- ।
द्यत्पीतं सुतनोर्मया वदनकं वक्तुं न तत्पार्यते ।

मेरे प्रोषित होने के कारण, मेरी प्रिया का मुख म्लान, पांडु, कृश, वियोग-विधुर, लम्बी अलकों से आच्छादित और अलसित हो गया था। मेरे आ जाने पर वह तत्क्षण कांतिमय तथा आनन्दमय हो उठा। रति-केलि-काल में वह रूखा मुखड़ा सरस हो गया, रम्य हो गया। मैने आदरपूर्वक उस सुतनु के मुख-चुम्बन के बहाने जो अधर-रस पिया, उसका वर्णन करना असम्भव है।

भयो म्लान, पीरो परो, दूबरो, दुखित, दीन,
लंबे रूखे केस छए, स्लथ, मुख खीन हीन।
आवतै हमारे परदेस से पियारी-मुख
सोई ततकाल भयो प्रमुदित रस-लीन ।।
रति-केलि-काल में भयो है सोई रसमय,
आदर सों चूमि लयो ताहि, गहि, लवलीन।
पायो पियो जो रस, सो कहत बनै न कछू,
याको बरनन कोऊ करिहै कहा प्रवीन ।।

१४-२-६४

१०६।६० हरिणी

करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी
क्षिपति सुमनोमालाशेषं प्रदीपशिखां प्रति
स्थायति मुहुः पत्युर्नेत्रे विहस्य समाकुला
सुरतविरतौरम्या तन्वी मुहुर्मुहुरीक्षते

सुरतांत में मुग्धा इधर-उधर, कर-किसलय डालकर, तन पर से हटी साड़ी को टटोलती है। केश में गुंथे झड़े मर्दित फूलों को ले-लेकर, जलती दीप-शिखा को बुझाने के लिए, उठाकर उस पर फेंकती है। हँसती हुई वह विह्वल होकर पति के विलोचनों को बार-बार मूंदती है। सुरति से विरत वह रम्या तन्वी अपने प्रिय को बार-बार निहारती है।

कर-पल्लव सों, तन सों खसे बस्त्रन कों, सुरतांत में हेरती है।
दीप-सिखा पै, बुझाबन कों, बिखरे हुए फूलन गेरती है ।।
हँसती बनी विह्वला पीय-विलोचन, हाथन मूंदि के घेरती है।
रति-अंत में रामा पियै अपने, रस-रंग सों रीझि के हेरती है ।।

१४-२-६४

१०७/६१ शार्दूलविक्रीडित

सन्त्येवात्र गृहे-गृहे युवतयस्ताः पृच्छ गत्वाधुना
प्रेयांसः प्रणमंति किं तव पुनर्दासो यथा वर्तते
आत्मद्रोहिणि दुर्जनैः प्रलपितं कर्णेऽनिशं मा कृथा
श्छिन्नस्नेहरसा भवंति पुरुषा दुःखानुवर्त्याः पुनः

यहाँ घर-घर में युवतियाँ हैं। जाकर उनसे इसी समय पूछो—क्या उनके प्रियतम उनसे इसी प्रकार प्रणत रहते हैं, जैसा तुम्हारा यह दास प्रणत रहता है ? हे आत्मद्रोहिणी, दुर्जनों के प्रलाप पर कान मत दो। एक बार स्नेह-रस टूट जाने पर पुरुष बड़ी कठिनाई से पुनः अनुगत हो पाते हैं।

घर-घर युवती हैं, सुंदरी हैं, रमणी हैं,
याही समै उनसे लो पूछ-पांछ जाके पास।
उनके जो प्रियतम, क्या हैं वो प्रणत यों ही,
जैसो है प्रणत नत सजनी तिहारो दास ।।

पिसुनों के सुनके प्रलाप तुम रूठ गई,
आत्मद्रोहिनी न बनो, पी सों न बनो उदास ।
एकबार स्नेह-धार जौ पै कहूँ टूट जाय,
फिर न पुरुष अनुगत ह्वोके आवै पास ।।

१८-२-६४

१०८/६२ शार्दूलविक्रीडित

निःश्वासा वदनं दहंति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तं दिवं रुदचते
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तदोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः

उष्ण निःश्वास से वदन दग्ध होता जा रहा है, हृदय समूल उखड़ा जा रहा है, नींद नहीं आ रही है; प्रिय का मुख देखने को नहीं मिल पा रहा है, रात-दिन रोते बीत रहा है, अंग सूखते जा रहे हैं । तब भी चरणों पर गिरा हुआ प्रिय उपेक्षित किया गया । हे सखियो, कहो तो, तुमने कौन-सा गुण सोचकर प्रिय से मान करवाया ?

गरम उसासनि सों आनन जरत नित,
हृदय हमारो जर सों है उखरत जात ।
नींद नहीं आवै, प्रिय-मुख नहीं दरसावै,
रात-दिन आँखिन सों अँसुआ ढरत जात ।।
सूखत है जात अंग, पग पै पर्यो हो पीउ,
तब नहीं मानी बात, अब कसकत गात ।
बोलौ सखी, देख्यौ यामैं कौन गुन भारी. जासों,
प्यारे सों कराय मान, हमैं र्वावौ दिन-रात ।।

१८-२-६४

१०९/९३ शार्दूलविक्रीडित

अद्यारभ्य यदि प्रिये पुनरहं मानस्य वान्यस्य वा
गृह्णीयां शठदुर्नयेन मनसा नामापि संक्षेपतः
तत्ते नैव विना शशांकधवलाः स्पष्टाट्टहासा निशा
एको वा दिवसः पयोदमलिनो यायान्मम प्रावृषि

आज से यदि कभी मेरे शठ दुर्लभ मन द्वारा प्रियतम के प्रति मान या कोप या किसी अन्य प्रकार की अन्यथा बात की बात भी की जाय, सोची जाय, तो संक्षेप में मैं इतना ही कहती हूँ कि मेरे लिए शशांक धवला निशा स्पष्ट ही उपहासमय अट्टहास बनकर रह जाय। अथवा वर्षा में पयोद से मलिन सुदिन भी दुर्दिन हो जाय। (मैं प्रिय के साथ न तो शरद की निर्मल चाँदनी में केलि-रत हो सकूँ और न बादलों से घिरी वर्षा में डरकर उनसे लिपट सकूँ।)

आजु सों भूलि हू कै जो कबौं सठ चित्त या मान की बात चलावै,
तौ इतनोई कहौं मैं सखी, सुख या पहँ नैकु कबौं नहिं आवै ॥
प्रीतम के बिना रंग-रली निसि सारदी में ये कबौं न मचावै,
सावन की घन घोरन में, कलपै यह नित्य, नहीं कल पावै।

१८-२-६४

११०/९५ हरिणी

चरणपतनं सख्यालापा मनोहरचाटवः
कृशतनतनोर्गाढाश्लेषो हठात्परिचुम्बनम्
इति हि चपलो मानारंभस्तथापि हि नोत्सहे
हृदयदयितः कान्तः कामं किमत्र करोम्यहम्

(प्रिय आए और) मेरे पैरों पर गिर गए, मेरी सखियों से चिकनी-चुपड़ी बातें कीं। सब सखियाँ टल गईं। तब उन्होंने मेरे कृश तन को अपने प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया और हठपूर्वक मुझे बार-बार चूमने लगे। इन बातों से मेरा मन (मान के प्रति) चपल, अस्थिर हो उठा है। फिर भी इस मान को छोड़ नहीं पा रही हूँ और इधर कांत भी प्राणों से प्यारा है। अब मैं करूँ तो क्या करूँ ?

पिउ आयो, गिर्‌यो मम पांइँन पै. सखियान सों मीठी करी बतियाँ
जब वै सिगरी टरीं, पीउ ने मोहि लगाइ लई कसि कै छतियाँ
फिरि चूम्यो गरो गहि बार अनेक, भयो मन चंचल या रतियाँ
इत मान न छोड़ै तऊ मन या, उत प्यारो पिया, करौं का घतियाँ ॥

१९-२-९४

१११।९८ शिखरिणी

अहं तेनाहूता किमपि कथयामीति विजने
समीपे चासीना सरसहृदयत्वादवहिता
ततः कर्णोपान्ते किमपि वदताघ्राय वदनं
गृहीत्वा धम्मिल्ले सखि स च मया गाढमधरे

एकांत में तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ, ऐसा कहकर उसके द्वारा मैं बुलाई गई। सरस-हृदयता के कारण सावधान होकर भी मैं उस विजन में उसके समीप जाकर विश्वस्त भाव से बैठ गई। तदुपरान्त मेरे कानों के पास मुँह लाकर कुछ कहते-कहते उसने अपने मुँह में मेरा मुँह भर लिया। फिर मेरा जूड़ा पकड़कर मुझे अपनी ओर खींचा। हे सखि, तब उसका भी मुँह मेरे अधरों द्वारा खूब कसकर मुँह में भर लिया गया।

कहनो है एकांत में तोसों कछू, कहिके पिउ ने मोहि है भरमायौ
मैं हूँ सुचित्त ह्वै जाइ के ता ढिग, बैठि गई, नहिं संभ्रम छायौ
कान लौं लाइ के आनन कौं निज, बातैं बनाइ, मुँहै, मुँह नायौ
वाने धर्‌यो कसि जूरो मेरो, गसि होठन होठ हौंहूँ चुभलायो ॥

१९-२-९४

११२।१०० स्रग्धरा

चक्षुः प्रीतिप्रसक्ते मनसि परिचये चिन्त्यमानाभ्युपाये
रागे यातेऽतिभूमिं विकसति सुतरां गोचरे दूतिकायाः
आस्तां दूरेण तावत्सरभसदयितालिंगनानंदलाभ
स्तद्गेहोपान्तरथ्याभ्रमणमपि परां निर्वृतिं संतनोति

नयन-प्रीति हो जाने पर, मन उसके परिचय पाने के प्रयासों का चिन्तन करने लगता है। दूती-दर्शन से अनुराग अत्यन्त विकसित हो जाता है। तब आवेगपूर्वक प्रिय को परिरम्भण में बाँधने के आनन्द की बात तो बहुत बड़ी बात है, उसकी गली में, उसके घर के आसपास चक्कर लगाने में भी अपार आनन्द मिलने लगता है।

देखि के नैनन प्रीति जगै, मन 'को है,' 'कहाँ को है' जानन चाहत
देखत दूतिन के मुख को, अनुराग को राग सदा उर बाढ़त
परिरंभण को सुख तो बड़ी बात है, दूरिहू सौं मन है अवगाहत
पीउ पियारे की बाँकी गलीन, अवास के पास, है घूमनो भावत ॥

१६-२-६४

११३/१०१ शार्दूलविक्रीडित

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बंधना-
द्वासो विश्लथमेखलागुणधृतं किंचिन्नितंबे स्थितम्
एतावत्सखि वेद्मि संपतमहं तस्यांगसंगे पुनः
कोऽयं कास्मि रतं नु वा कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः

जैसे ही कांत सेज पर आया, नीवी के बंधन स्वतः ढीले पड़ गए। करधनी की डोर में फँसी साड़ी भी शिथिल हो गई और वह जैसे-तैसे मात्र नितम्ब पर सटी रह गई। हे सखी, मैं इतना ही भर जानती हूँ। कैसे उसका अंग-संग हुआ। मैं कौन हूँ, कैसे सुरति सम्पन्न हुई, मुझे इन सबकी स्मृति अल्पमात्र भी नहीं।

आवत ही सखि सेज पै साजन के, पड़े नीबी के बंधन ढीले।
रसना गुन में फँसी, सारी भई स्लथ, जाइ नितंब सटी फरकीले
और न आगे की जानति हौं, किमि अंग सों अंग लगे हैं रसीले
कौन मैं, कैसे भई रति पूरन, बेसुध ह्वै गई, संग रँगीले।

१६-२-६४

□□

२. श्लोकानुक्रमणिका

□□